

क्रोपाटकिन के सुयोग्य अग्रज एलेग्जैण्डर

# क्रांति की भावना

[ समाज की नवीन रचना पर मौलिक विचार ]



१९५६

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार · १९५६
मूल्य
अढाई रुपये

# प्रकाशकीय

भारतीय पाठक प्रिंस क्रोपाटकिन के नाम से भली प्रकार परिचित है। वह रूस के एक महान् क्रान्तिकारी विचारक थे। उनकी कई पुस्तके हिन्दी मे प्रकाशित हो चुकी है, जिनमे 'रोटी का सवाल' तथा 'नवयुवको से दो बातें' को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। क्रोपाटकिन के विचार मौलिक होने के साथ-साथ बडे ही क्रान्तिकारी भी थे। वह स्वय उच्च कोटि के क्रान्तिकारी थे, यद्यपि वे अहिसावादी नही थे तथापि वह निरर्थक हिसात्मक तोड-फोड की नीति मे विश्वास नही करते थे। वे विचारो मे क्रान्ति चाहते थे और ऐसे समाज की रचना करने के अभिलाषी थे, जिसमे कोई किसीका शोषण न करे, सब प्रेम-भाव से रहे, और प्रत्येक नागरिक स्वावलम्बी बनकर पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना जीवन-यापन करे। वे साधनो की पवित्रता पर भी जोर देते थे। वह यह भी चाहते थे कि हर व्यक्ति स्वतत्र हो और कोई भी छोटा-वडा आदमी दूसरे के इशारे पर न नाचे। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सघ ' या सहयोग' (म्यूचुअल एड) की गणना ससार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तको मे की जाती है।

इस पुस्तक मे कई आवश्यक विषयो पर उनके विचार दिये गए है। उन्हे पढकर पाठक एक नई दृष्टि पायगे, ऐसी आशा है।

पुस्तक के कुछ लेखो का अनुवाद स्व० ब्रजमोहन वर्मा ने किया था, शेष का श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र, श्री सत्य भक्त तथा श्री बुद्धिप्रकाश ने। 'सबका सुख' नामक अध्याय श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय द्वारा अनुवादित 'रोटी का सवाल' से उद्धृत किया गया है।

हमे आशा है कि इस पुस्तक के उपयोगी विचारो का व्यापक प्रसार होगा।

मंत्री

# भूमिका

"हम लोग रूसी क्रांति के मार्ग को बदलने में असमर्थ हैं, जबतक कि यह अपना खात्मा खुद ही न कर ले; और होगा भी यही। यह अपने को स्वयं ही समाप्त कर डालेगी। उसके बाद प्रतिक्रिया की लहर आयगी। संसार के इतिहास में सदा से ऐसा होता आया है। लोग समझते हैं कि हम क्रान्तियो के विकास के मार्ग को बदल सकते है। यह छोकरेपन से भरा हुआ भ्रम है। क्राति में वह अदम्य शक्ति है कि उसके विकास का क्रम बदला नही जा सकता, पर उसके बाद प्रतिक्रिया का आना उतना ही अनिवार्य है, जितना ऊँची लहरों के बै जाने पर पानी का पीछे हटना, अथवा सरगर्मी से मेहनत करने के बाद शारीरिक थकान का होना।"

ये शब्द क्रोपाटकिन ने अपने २८ अप्रैल सन् १९१९ को पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम पत्र के रूप में लिखे थे, और आज ३७ वर्ष बाद क्रान्ति की जो प्रतिक्रिया रूस में हो रही है, उसे देखते हुए उनके उपर्युक्त विचार भविष्यवाणी के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। आगे चलकर क्रोपाटकिन ने बतलाया था—"क्रान्ति को रोकने की कल्पना बिल्कुल फालतू है। क्रान्ति अपने रास्ते पर आगे बढ़ेगी और उस मार्ग पर जायगी, जहा उसे कम-से-कम बाधा मिले। हम लोगो के प्रयत्न की वह कुछ भी परवाह न करेगी। इस वक्त बात यह है कि रूसी क्रान्ति भयंकर अनाचार कर रही है और सारे देश को तबाह कर रही है। अपने पागलपन से भरे क्रोध में वह मनुष्यों का कत्ल कर रही है, क्योंकि आखिर वह क्रान्ति है, कोई शान्तिमय उन्नति नहीं। हम उसके सामने शक्तिहीन हैं। लोग कल्पना करते हैं कि वे क्रान्ति के दौर को बदल सकते हैं। पर यह खामख्याली है।"

इसके साल भर बाद उन्होंने एमा गोल्डमेन नामक अराजकवादी

महिला से कहा था —"कम्यूनिस्ट लोग केन्द्रीय सरकार में अमिट विश्वास रखते हैं, और इसलिए यह अनिवार्य है कि ये रूसी क्रान्ति को गलत रास्ते पर ले जायं। उनका मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण राजनैतिक शक्ति को अपने हाथो में ले लेना है, और इसलिए वे साम्यवाद के लिए वैसे ही खतरनाक बन गए है, जैसे ईसाई-धर्म के लिए जैसुइट सम्प्रदाय के पादरी थे, यानी उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भले-बुरे चाहे जैसे भी उपाय काम में लाये जा सकते है। इन कम्यूनिस्टो के तौर-तरीको से जनता की शक्ति को लकवा मार गया है और सर्वसाधारण आतंक के कारण भयभीत हो गए हैं; लेकिन एक बात ध्रुव-निश्चित है, और वह यह कि बिना जनता की सहायता के, बिना किसान-मजदूरो के सीधे सहयोग के, देश में कोई भी रचनात्मक काम, कोई भी पुर्ननिर्माण सम्बन्धी आवश्यक कार्य सफल हो ही नहीं सकता।"

क्रोपाटकिन आदर्शवादी व्यक्ति थे, पर उनका दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक था। वह जानते थे कि करोडो छोटे-बड़े कारणों से क्रान्तियो का प्रादुर्भाव होता है और इक्के-दुक्के आदमियो या समूहों की उसके सामने कोई भी बिसात नहीं। क्या भूकम्प या आंधी-तूफान का कोई मुकाबला किया जा सकता है? पर इसके साथ ही क्रोपाटकिन भविष्य के द्रष्टा भी थे। वे दूर की बात देख सकते थे। वे कोरमकोर सिद्धान्तवादी नहीं थे। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रो की रूस विरोधी नीति का प्रबल विरोध किया था, यद्यपि उनके तथा लेनिन की सरकार के विचारो में काफी अन्तर था।

क्रोपाटकिन की क्रान्तिकारी पुस्तिकाओ का संग्रह अंग्रेजी में पहले-पहल सन् १९२८ में न्यूयार्क के 'वैनगार्ड प्रेस' से प्रकाशित हुआ था, पर उसके पूर्व भी वे लाखो की संख्या में यूरोप की अनेक भाषाओ में छप चुकी थीं और वितरित हो चुकी थीं। चीनी और जापानी भाषाओ में भी उनका अनुवाद हुआ था। हमें अच्छी तरह याद है कि सन् १९२०-२१ के आन्दोलन के दिनो में क्रोपाटकिन की पामफलेट 'एन एपील टू दि यग' बम्बई में छपी थी और उसके आठ-नौ वर्ष बाद हमने उसका अनुवाद

'नवयुवकों से दो बातें' के नाम से बन्धुवर सत्यभक्तजी से करा कर 'विशाल भारत' में प्रकाशित कराया था। तत्पश्चात् कलकत्ता के खादी भंडार ने उसकी कई सहस्र प्रतियां छपाई और अब 'सस्ता साहित्य मंडल' के द्वारा भी यह पुस्तिका निरन्तर छपती रही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पुस्तिका सन् १८८० में 'ली रिवोल्ते' क्रांति नामक फ्रांसीसी पत्र में छपी थी और आज ७६ वर्ष बाद भी वह ज्यो-की-त्यों सजीव है, ताजा है !

एक बात खास तौरपर ध्यान देने योग्य है और वह यह कि सर्वोदय तथा अराजकवाद की विचारधाराओं में बहुत-कुछ साम्य है और समय की गति ने उन दोनो को और भी निकट ला दिया है। साधनो की पवित्रता पर तो क्रोपाटकिन पहले ही जोर देते आ रहे थे, पर हिंसा-अहिंसा के विषय में उनके विचार महात्माजी के विचारों से कुछ भिन्न थे। हर्ष और सन्तोष की बात है कि अणुबम के युग ने वह भेद भी दूर कर दिया है। क्रोपाटकिन के अनेक भक्त अब अहिंसा की उपयोगिता को भलीभांति समझने लगे हैं। प्रिंस क्रोपाटकिन के जीवन-चरित 'दि एनारकिस्ट प्रिंस' के लेखको ने लिखा है :

"The only choice left to us is a society based not on organised violence, but on peaceful understanding; not on the State, but on a decentralised network of voluntary cooperation."

अर्थात्—"हम लोगो के लिए केवल एक ही रास्ता बाकी रह गया है—यानी हम एक ऐसी समाज-व्यवस्था का समर्थन करें, जो संगठित हिंसा के बजाय शांतिमय समझौते के आधार पर कायम हो—जिसका आधार 'राज्य' के बजाय स्वेच्छापूर्ण सहयोग हो—यानी विकेन्द्रित सहकारी समितियों का एक जाल।" दूसरे शब्दो में इसे हम सर्वोदय ही कह सकते हैं।

सर हरबर्ट रीड ने भी अपनी पुस्तक 'एनार्की एण्ड ऑर्डर' (अराजकता और व्यवस्था) की भूमिका में लिखा है :

"एटम बम के युग में किसी अराजकवादी के लिए क्रांतिकारी

वास्तविकता इसी बात में है कि वह शांतिमय उपायो का समर्थन करे। बम तो अब तानाशाही सरकारो का चिह्न बन गया है, वह अराजकवादियों का अस्त्र नहीं रहा।"

हरवर्ट रीड का कहना है कि हमारे उद्देश्य की सिद्धि अत्याचारियों से प्रेम करने से ही हो सकती है—विघातक हाथों को चूमने से !

क्रोपाटकिन आतंकवाद ( टेररिज्म ) के समर्थक नहीं थे। उन्होने एक अराजकवादी पत्र के विषय में लिखा था कि आतंकवाद का समर्थन मूर्खतापूर्ण है। जब उस पत्र ने आतंकवाद के पक्ष में एक लेख छापा था तो क्रोपाटकिन ने लिखा, "वह लेख मुझे बहुत ही बुरा लगा।" सन् १८९६ में उन्होने अपने एक मित्र रोबिन को लिखा था:

" I cannot continue any longer living entirely by my pen, I sink under the load, whereas if I went over to market gardening and planting of corn, I could give real teaching."

अर्थात्—"अब मैं केवल अपनी लेखनी के द्वारा ही जीविका उपार्जन नहीं कर सकता। उसके बोझ के मारे मैं दबा जाता हूं, लेकिन अगर मैं बाग-बगीचे की चीजें, साग-भाजी फल-फलैरी, पैदा करता और अनाज उगाता, तो दरअसल कुछ सिखा सकता।" क्रोपाटकिन के इस पत्र की तुलना कीजिए महात्मा गांधी के उस पत्र से, जो उन्होने पडित तोतारामजी सनाढ्य को सन् १९३३ में लिखा था:

"विवरण (खेती का) दुबारा पढ़ लूंगा। मेरी आकाक्षा तो यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें जो हमारे लिए पर्याप्त हो। यदि गोमाता के लिए भी घास आदि पैदा करें औरआश्रम के लिए अनाज तो खेती के पूर्ण आदर्श को हम पहुंचें। इसमें थोड़ा ज्यादा खर्च भी हुआ तो भी मैं उसको सफल समझूंगा, लेकिन मैं जानता हूं कि यह सब मूर्ख का बकवाद है। खेती का काम सबसे कम किया और बाते सबसे मैंने इस बारे में ज्यादा

की है। क्या करूं ? खती उन्हीं चीजो में से हैं जो करने का खयाल मुझको आधी आयु बीतने पर आया ।"

क्या ही अच्छा हो यदि समाज-शास्त्र के कोई विशेषज्ञ इन दोनों महानुभावो—क्रोपाटकिन तथा गांधीजी—के जीवन तथा विचारो का तुलनात्मक अध्ययन करके एक निबन्ध लिखें ! भावी समाज-व्यवस्था के आधार-स्तम्भों का निर्माण करनेवाली इन दोनों विभूतियो का विचार-साम्य सचमुच आश्चर्यजनक है ।

हमें इस बात का खेद ह कि क्रोपाटकिन की सर्वोत्तम पामफ्लेट 'मॉडर्न साइंस एण्ड एनार्किज्म' (आधुनिक विज्ञान और अराजकवाद) का अनुवाद हम इस पुस्तक में नही दे सके । वह तो अपने में पूर्ण एक पुस्तिका ही है और उसे हम अलग ही छपाना चाहते हैं ।

क्रोपाटकिन के विचारों का मूल्य इसलिए और भी बढ़ जाता है कि उन्होने तदनुसार रहने का भरपूर प्रयत्न किया । यद्यपि आज उनके सिद्धान्त अव्यावहारिक से प्रतीत होते है, संसार में केन्द्रीकरण तथा शासन के सिद्धांतो की विजय दीख पडती है, तथापि यह विजय चिरस्थायी नही कही जा सकती । जब ३९ वर्ष की तानाशाही के बाद स्वयं रूस में उस विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है, तो अन्य देशों के बारे में तो कहना ही क्या है ! मानव-जीवन के इतिहास में एक युग के बाद दूसरा युग आता है । भिन्न-भिन्न देशों को प्रायः उन्हीं युगो में से गुजरना पड़ता है । मानव-शरीर की अनेक व्याधियो की तरह शासन भी चेचक या खसरे की तरह की एक बीमारी ही है, और यदि करोडो वर्ष के मानव-जीवन में दो-चार हजार वर्ष शासन रूपी बीमारी में व्यतीत हो गए, तो उससे हमें कुछ आश्चर्य न होना चाहिए । पर अब मनुष्यो की विचारधारा स्वस्थता की ओर बढ रही है । विचारो की स्वाधीनता तथा पारस्परिक सहयोग, विकेन्द्रीकरण और स्वेच्छापूर्ण संघ-निर्माण के सिद्धान्त अब अधिकाधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं ।

सुना है, मयूरभंज राज्य में एक शिलालेख पाया गया है, जिसमें लिखा है :

'राज्य वै वैराज्याय'

# प्रिंस क्रोपाटकिन : रेखा-चित्र

"जनाव व्लादीमीर इलियच (लेनिन), जब आपकी आकाक्षा तो यह है कि हम एक नवीन सत्य के मसीहा बने और नवीन राज्य के संस्थापक, तो फिर आप किस प्रकार ऐसे बीभत्स सरकारी अनाचारो और गैर-मुनासिव सरकारी तौर-तरीको को अपनी स्वीकृति दे सकते हैं, जैसे कि किसी अपराध के लिए अपराधी के नाते-रिश्तेदारो को गिरफ्तार कर लेना ? इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप जारशाही के विचारो से चिपके हुए है। पर शायद उन निरपराध आदमियो को पकडकर आप अपनी जान की रक्षा करना चाहते हैं। क्या आप इतने अन्धे हो गये है और अपनी तानाशाही के विचारो के इतने गुलाम वन गये है कि आपको यह वात नही सूझती कि आप-जैसे यूरोपियन साम्यवाद के अग्रणी के लिए यह कार्य (लज्जाजनक तरीको द्वारा निरपराधो की गिरफ्तारी) सर्वथा अनधिकार चेष्टा है ? आपका यह काम भयकर रूप से त्रुटिपूर्ण तो है ही, वल्कि उससे यह भी प्रकट होता है कि आप मृत्यु से डरते है, जो सर्वथा तर्क-विहीन वात है। उस साम्यवाद के विपय मे क्या कहा जाय, जिसका एक महत्त्वपूर्ण रक्षक इस प्रकार ईमानदारी की प्रत्येक भावना को पैरो-तले कुचलता है ?"

यह है उस महत्त्वपूर्ण पत्र का एक अश, जिसे अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे (अपनी मृत्यु से दो महीने पूर्व) क्रोपाटकिन ने लेनिन को लिखा था। लेनिन उन दिनो विशाल रूसी राज्य के निरकुश शासक थे और क्रोपाटकिन ४१ वर्प के देश-निकाले के वाद चार वर्प अपनी मातृभूमि के दमघोटू वातावरण मे काटकर परलोक-गमन की तैयारी कर रहे थे। इन शब्दो मे उन्नीसवी और वीसवी शताब्दी के उस महापुरुप की आत्मा वोल रही है, जिसने कभी अन्याय के साथ समझौता करना मुनासिव न समझा जिसने साधन और साध्य

दोनो की पवित्रता पर समान रूप से जोर दिया और जिसने ईमानदारी तथा अपरिग्रह का वह दृष्टात उपस्थित कर दिया, जिसकी मिसाल ससार के राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ के इतिहास मे दुर्लभ ही है।

जब केरेन्स्की ने क्रोपाटकिन से कहा—"आप हमारे सरकारी मन्त्रि-मडल मे जिस किसी पद को चुन लीजिये, वही आपको अर्पित हो जायगा", उस समय क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया था—"मंत्रित्व के कार्य की अपेक्षा तो मै जूतो पर पालिश करनेवाले चमार का काम अधिक आदरणीय तथा उपयोगी मानता हूँ।" इसी प्रकार दस हजार रूबल की पेंशन के प्रस्ताव को उन्होंने ठुकरा दिया और जार के शीतकालीन महलो के निवास की सर्वथा उपेक्षा की। यह तो हुई लेनिन के पूर्व के शासको के समय की बात; स्वयं साम्यवादी सरकार के शिक्षा-मत्री लूनाचरस्की ने जब क्रोपाटकिन को लिखा, "आप सरकार के ढाई लाख रूबल लेकर अपनी किताबो के छापने का अधिकार हमें दे दीजिये", तो क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया—"मैने तो कभी शासन से पैसा लिया नही और न अब ही सरकारी सहायता ग्रहण कर सकता हूँ।" यह उन दिनो की बात है, जब क्रोपाटकिन को वृद्धावस्था के अनुरूप पर्याप्त भोजन भी नही मिलता था, जब उनके पास रोशनी की भी कमी थी और कोई सहायक भी नही था।

प्रश्न उठता है कि आदर्शवाद को पराकाष्ठा तक पहुँचा देनेवाले क्रोपाटकिन अपनी गुजर-बसर कैसे करते थे? देश-निकाले के ४१ वर्ष उन्होंने अपनी लेखनी के बल-बूते पर ही काट दिये। इसमे भी अराजकवादी लेखो से उन्होने एक पैसा नही कमाया। वे अत्यत उच्चकोटि के वैज्ञानिक थे और विज्ञान-सम्बन्धी लेखो तथा टिप्पणियो से उन्हे कुछ मजदूरी मिल जाती थी। बडी सादगी के साथ उन्होने अपने आत्म-चरित मे लिखा है—"अगर रूस से पर्याप्त समाचार आ जाते अथवा वैज्ञानिक विषयो पर भी नोट स्वीकृत हो जाते, तो रोटी-चाय के साथ मक्खन भी मिल जाता था, नही तो रूखी रोटी पर ही गुजर करनी पडती थी।"

सुप्रसिद्ध लेखक फ्रैंक हैरिस ने क्रोपाटकिन के इगलैण्ड के निवास के

दिनो के आतिथ्य का एक अच्छा शब्द-चित्र खीचा है—"क्रोपाटकिन की धर्मपत्नी सोफी भोजन तैयार कर रही है पति के लिए, छोटी-सी पुत्री के लिए और अपने लिए, कि इतने मे कोई अतिथि महोदय न-जाने कहा से आ टपके ! क्रोपाटकिन ने शीघ्र ही भीतर जाकर कहा—"सोफी, जरा साग मे थोडा पानी मिला देना।" थोडी देर बाद एक और अतिथि देव पधारे और क्रोपाटकिन को फिर भीतर जाकर कहना पड़ा—"कुछ पानी और भी।" इस प्रकार की क्रिया कई वार करनी पडती और सोफी को ढाई आदमियो के बजाय छ-सात आदमियो को भोजन कराना पडता। मेहमानदारी क्रोपाटकिन के अत्यत प्रिय गुणो मे से थी और कोई विल्कुल अजनबी आदमी भी उनके घर पर किसी सकोच को अनुभव न करता था।"

ससार मे अनेक राजनैतिक महापुरुष हुए है और होगे—पर मस्तिष्क की विशालता, हृदय की उदारता, चरित्र की स्वच्छता और जीवन की उच्चता के खयाल से क्रोपाटकिन का दृष्टात प्राय अनुपम ही सिद्ध होगा। वैसे प्रारम्भिक तथा यौवन के वर्षो की दृष्टि से क्रोपाटकिन के जीवन का सर्वोत्तम वृतात तो उनके आत्म-चरित 'मेमोइर्स आव ए रिवोल्यूशनिस्ट' से ही मिल सकता है, पर वह ग्रथ सन् १८९८ तक का ही है और उसके वाद क्रोपाटकिन २३ वर्ष और जीवित रहे थे। इस कारण उनके एक विस्तृत जीवन-चरित की आवश्यकता थी और उसकी पूर्त्ति जार्ज वुडकोक और आइवन अवाकुमोविक नाम के दो ग्रथकारो ने की है। (प्रिस पीटर क्रोपाटकिन—प्रकाशक वोर्डमैन)।

क्रोपाटकिन का जन्म सन् १८४२ मे हुआ और मृत्यु १९२१ मे। उनके जीवन-चरित मे तत्कालीन रूस का एक चलता-फिरता चित्र-सा दिखाई देता है। उनका आत्मचरित इतनी खूबी के साथ लिखा गया है कि उसे उन्नीसवी शताब्दी का सर्वोत्तम आत्मचरित कहा जाता है। क्रोपाटकिन का जीवन एकांगी न था, वह बहुअगीन था। क्रातिकारी अराजकवादी तो वे थे ही, पर साथ-ही-साथ ससार के भूगोलवेत्ताओ में भी वे शिरोमणि थे और समाज-विज्ञान के भी जाने-माने आचार्य। रूस तथा यूरोप के सत्तर वर्ष के इतिहास

पर भी उनके जीवन से विशेष प्रभाव पडा है।

क्रोपाटकिन के इस जीवन-चरित को पढते हुए हमे उनके और गाधीजी—इन दोनो महापुरुषो के जीवन तथा दृष्टिकोण मे अद्भुत साम्य प्रतीत हुआ। साधनो की पवित्रता पर वे उतना ही ज़ोर देते थे, जितना कि महात्मा गाधी। मेरी गोल्ड स्मिथ नामक एक यहूदी अराजकवादी ने लिखा है—"जो भी नवयुवक क्रोपाटकिन से मिलने जाता था, उसका कथन वे बडी प्रेमपूर्ण मुस्कराहट और सौम्य भावना से सुनते थे, पर एक बात थी वह यह कि यद्यपि प्रत्येक ईमानदार तथा उत्साही युवक के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहता था, तथापि साधनो के चुनाव के विषय मे वे काफी कठोरता से काम लेते थे। प्रचार के कुछ ढगो को क्रोपाटकिन असह्य मानते थे। अनुचित साधनो का जिक्र करते हुए उनका स्वर कठोर हो जाता था और उनकी निन्दा बिना किसी लगा-लेसी के होती थी। 'चाहे जैसे बुरे-भले साधनो से अपने लक्ष्य की प्राप्ति' इस सिद्धात से उन्हे घोर घृणा थी और कोई भी प्रश्न हो—चाहे सगठन का, या रुपये एकत्रित करने का, या विरोधियो के प्रति व्यवहार का, या दूसरी पार्टियो के साथ सबध स्थापित करने का—अगर कोई साधनो की पवित्रता को नगण्य मानता, तो वे उसे नफरत की निगाहो से देखते थे और उसे निन्दनीय मानते थे।"

श्री जवाहरलालजी का कथन है कि 'साधनो की पवित्रता' पर जोर देकर महात्माजी ने राजनीति को बडे ऊँचे धरातल पर ला दिया। ससार की राजनीति को यह उनका एक बडा दान था। इस विषय में क्रोपाटकिन उनके अग्रणी ही थे।

शिक्षा, कृषि, शारीरिक श्रम का महत्त्व और विकेन्द्रीकरण के सिद्धातों पर तो दोनो महापुरुषो के विचार बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। सन् १८९६ मे जब टाइनसाइड के कुछ कार्यकर्त्ता एक कृषि-सघ कायम करके खेती बढाना चाहते थे, क्रोपाटकिन ने उन्हें एक पत्र लिखकर प्रोत्साहित किया था और साथ ही मार्ग की बाधाओ के विषय मे भी आगाह कर दिया था। उन्होंने बतलाया था कि छोटे समूह मे अक्सर झगडे उठखडे होते है, शहरी कार्यकर्त्ताओ के

लिए भूमि पर काम करना मुश्किल हो जाता है। पूंजी की कमी का खतरा अलग रहता है और सन्यासीपन की भावना गलत रास्ते पर ले जाती है। इसके बाद उन्होने लिखा था—"यदि कृषि का कार्य तुमको आकर्षक लगता है तो उसीको ग्रहण करो। तुम्हे उसमे अपने पहले के आदमियो की अपेक्षा सफलता की आशा अधिक है। कम-से-कम तुम्हे सहानुभूति मिलेगी ही और मेरी सद्भावना तो बराबर तुम्हारे साथ रहेगी।"

क्रोपाटकिन ने कृषि के विषय मे भी अनुसधान किये थे। जब वह फ्रासीसी जेल मे थे, तो सरकार ने उन्हे अपने कृषि-सबधी प्रयोगो के लिए एक खेत दे दिया था, और ऐसा कहा जाता है कि उन्होने जो प्रयोग वहा किये थे, उन्होने कृषि-जगत् मे एक क्राति ही कर दी। इन्ही प्रयोगो के आधार पर उन्होने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फील्ड, फैक्टरीज एण्ड वर्कशाप' लिखी। नई तालीम के अनेक मूल सिद्धात इस पुस्तक मे है।

क्रोपाटकिन के जीवन-चरित के लेखको ने लिखा है—"क्रोपाटकिन तथा उनके साथियो मे आतंकवाद पर बराबर मतभेद रहा।" स्वय क्रोपाटकिन ने भी एक जगह लिखा है—"साधारणत यह कहना ठीक होगा कि आतंक की प्रतिष्ठा एक सिद्धात के रूप मे कर देना मूर्खतापूर्ण है।" इस सबध मे सन् १८९३ की एक महत्त्वपूर्ण घटना यहा दी जाती है। कोयले की खानो मे हडताल हो गई थी। इगलैण्ड के मजदूर नेता एक होटल मे इकट्ठे हुए थे और उन्होने क्रोपाटकिन को भी निमन्त्रित किया था। जबतक खान के मजदूरो के कष्टो के निवारण की चर्चा चलती रही, सभी लोग एक-दूसरे से सहमत रहे, पर ज्योंही उपायो का विषय छिडा कि क्रोपाटकिन की 'शाति-प्रियता' ने मानो मेज पर विस्फोटक काम किया। मजदूर दल के सभी नेता सरकार के खिलाफ और कठोर उपाय काम में लाने के पक्षपाती निकले। इसके विपरीत क्रोपाटकिन का कहना था कि हमें सत्याग्रह, बीच-बचाव तथा प्रचार से काम लेना चाहिए। इस वाद-विवाद का नतीजा यह हुआ कि सभा भंग हो गई। टामस मैन नामक मजदूर नेता बार-बार चिल्ला रहे थे—"हमें विध्वस की नीति का आश्रय लेना चाहिए, चीजो को तोड-फोड डालना

चाहिए, जालिमो को खत्म कर देना चाहिए।" लेकिन ज्योही कुछ शाति होती, प्रिस क्रोपाटकिन अपने वैदेशिक लहजे मे बडी विनम्रता से बराबर यही कहते सुनाई देते—"नही, विनाश नही, हमे निर्माण करना चाहिए। हमे मनुष्यो के हृदय का निर्माण करना चाहिए।" ये शब्द तो बिल्कुल महात्मा गाधी जैसे ही प्रतीत होते है, और उन दिनो—१८९३ मे—महात्माजी ने दक्षिण अफ्रीका मे वकालत के लिए प्रवेश किया ही था।

देश का—देश का ही नही, ससार का—यह दुर्भाग्य है कि हमारे यहा ससार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विचारको के विचारो का साराश निकालनेवाले विद्वान् बहुत कम है, और खास तौर से आज तो जबकि दुनिया चौराहे पर खडी हुई है और उसके सामने ठीक मार्ग ग्रहण करने का प्रश्न उपस्थित है, यह विषय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। एक मार्ग है क्रोपाटकिन तथा गाधीजी का और दूसरा है मार्क्स और स्तालिन का।

महापुरुषो के जीवन-चरित मे अद्भुत स्फूर्त्ति प्रदान करने की सामर्थ्य होती है, और इस दृष्टि से क्रोपाटकिन का जीवन-चरित खासा महत्त्व रखता है। क्या अजीब सिनेमा-जैसा दृश्य वह हमारी आँखो के सामने ला उपस्थित करता है! एक अत्यत प्राचीन और उच्चवश मे जन्म, ज़ारशाही के अत्याचारो का घनघोर अन्धकार, गुलामी की प्रथा का दौर-दौरा, आठ वर्ष की उम्र मे ज़ार के पार्षद बालक, १२ वर्ष की अवस्था मे फ्रेंच भाषा का अध्ययन और रूसी राजनैतिक साहित्य मे रुचि, अपने बडे भाई एलेक्जेडर के साथ हार्दिक प्रेम, फ़ौजी स्कूल मे शिक्षा, साइबेरिया की यात्रा—गवर्नर जनरल के ए डी सी बनकर वहा से त्यागपत्र, फिर सेट पीटर्सबर्ग के विश्वविद्यालय मे पाच वर्ष तक गणित तथा भूगोल का अध्ययन, क्रातिकारी दल मे सम्मिलित होना, यूरोप की यात्रा और वहा अराजकवादी संस्थाओ का सपर्क, रूस लौटकर क्रातिकारी विचारो का प्रचार आदि। इसके बाद का दृश्य ए जी. गार्डिनर के रेखाचित्र मे देख लीजिये :

"नाटक का पर्दा बदलता है। जार्ज निकोलस की अधेरी रात दूर हो गई। लेकिन उसके बाद दासत्व-प्रथा बन्द होने के कारण थोडी देर के

लिए जो उषाकाल आया था, उसे स्तोलिपिन प्रतिक्रिया के अन्धकार ने ढँक लिया और रूस फिर पुलिस के अत्याचारो से कुचला जाने लगा। सैंकडो निरपराध आदमी फासी पर लटका दिये गए और हजारों ही जेल मे ठेल दिये गए, अथवा साइबेरिया मे अपनी कब्र खोदने के लिए निर्वासित कर दिये गए। सारे रूस पर भय और आतक का राज्य था, लेकिन भीतर-ही-भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। जार एलेक्जेडर द्वितीय ने अपने शासन का सूत्र दो जालिम पुलिस अफसरो—ट्रेपोफ और शुवालोफ—को सौप दिया था। वे चाहे जिसे फासी पर लटका देते थे और चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे। लेकिन फिर भी वे क्रातिकारी गुप्त समितियो की कार्यवाहियो को रोकने में सफल नही हुए। ये समितिया दनादन स्वाधीनता तथा क्राति का साहित्य जनसाधारण मे बाट रही थी। इस घोर अशातिमय वायुमडल मे भेड की खाल ओढे एक अद्भुत व्यक्ति, भूत की तरह, इधर-से-उधर घूम रहा है। उसका नाम बीरोडिन है। पुलिस के अफसर हाथ मल-मलकर कहते है—"बस, अगर हम लोग बीरोडिन को किसी तरह पकड ले तो इस क्रातिकारी सर्पिणी का मुँह ही कुचल जाय—हां, बोरोडिन को और उसके साथी-सगियो को!" लेकिन बीरोडिन को पकडना आसान काम नही। जिन जुलाहो और मजदूरो के बीच मे वह काम करता है, वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नही। वे सैंकडो की सख्या मे पकडे जाते है, कुछ को जेल का दड मिलता है और कुछ को फासी का, पर वे बोरोडिन का असली नाम और पता बतलाने के लिए तैयार नही होते।

"सन् १८७४ की वसन्त ऋतु। सध्या का समय। सेन्ट पीटर्सबर्ग के सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी ज्योग्राफिकल सोसाइटी के भवन में महान् वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिन का व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र हुए हैं। फिनलैण्ड की यात्रा के परिणामो के विषय मे उनका भाषण होता है। रूस के 'डाइल्यूवियल' (जलप्रलय) काल के विषय मे वैज्ञानिको ने जो सिद्धात अबतक कायम कर रखे थे, वे एक-के-बाद दूसरे खडित होते जाते है और अकाट्य तर्क के आधार पर एक नवीन सिद्धात की स्थापना होती है। सारे

वैज्ञानिक जगत मे क्रोपाटकिन की धाक जम जाती है। इस महापुरुष के मस्तिष्क के विषय मे क्या कहा जाय ! उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानो तथा विज्ञानो के समूचे साम्राज्य पर है। वह महान् गणितज्ञ है, ग्रन्थकार है (बारह वर्ष की उम्र मे उसने उपन्यास लिखे थे), वह सगीतज्ञ है और दार्शनिक। बीस भाषाओ का वह ज्ञाता ह और सात भाषाओ मे वह आसानी के साथ बातचीत कर सकता है। तीस वर्ष की उम्र मे रूस के चोटी के विद्वानो मे—उस महान् देश के कीर्ति-स्तभो मे—प्रिस क्रोपाटकिन की गणना होने लगती है। प्रिस क्रोपाटकिन को बाल्यावस्था मे फौजी काम सीखना पडा था, और पाच वर्ष बाद जब उनके सामने स्थान के चुनाव का सवाल आया तो उन्होने साइबेरिया को चुना था। वहा सुधार की जो योजना उन्होने पेश की और आमूर दरिया की यात्रा करके एशिया के भूगोल की भद्दी भूलो का जिस तरह सशोधन किया, उससे उनकी कीर्त्ति पहले से ही फैल चुकी थी, पर आज तो भौगोलिक जगत मे विजय का सेहरा उन्हीके सिर बाध दिया गया। प्रिस क्रोपाटकिन ज्योग्राफिकल सोसायटी के 'फिजीकल ज्योग्राफी' विभाग के सभापति मनोनीत किये गए। भाषण के बाद ज्योही गाडी मे बैठकर वे बाहर निकले, एक दूसरी गाडी उनके पास से गुजरी, एक जुलाहे ने उस गाडी मे से उचककर कहा—"मिस्टर बोरोडिन, सलाम।" दोनो गाडिया रोक दी गई। जुलाहे के पीछे खुफिया पुलिस का एक आदमी उस गाडी मे से कूद पडा और बोला—"मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिस क्रोपाटकिन, मै आपको गिरफ्तार करता हूँ।" उस जासूस के इशारे पर पुलिस के आदमी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता, क्रोपाटकिन पकड लिये गए। विश्वासघाती जुलाहा दूसरी गाडी मे उनके पीछे-पीछे चला।"

(इसके बाद वे किस तरह किले की जेल मे डाल दिये गए, वहा उन्हे क्या-क्या यातनाए सहनी पडी, और वहा से वह किस तरह भाग निकले, इसका अत्यत मनोरजक वृत्तात पाठक इस पुस्तक के 'जेल से भागना' नामक लेख मे पढ सकते है।)

सन १८७६ से लेकर १९१७ तक ४१ वर्ष क्रोपाटकिन को स्वदेश से

बाहर व्यतीत करने पडे। कठोर-से-कठोर साधना का यह लम्बा युग केवल उनके जीवन का ही नही, ससार के राजनैतिक इतिहास का भी एक महत्त्व-पूर्ण अध्याय है। इस बीच मे वे स्विटजरलैण्ड और फ्रास मे भी रहे और दो-ढाई वर्ष के लिए उन्हे फ्रासीसी जेल की भी हवा खानी पडी। उनके सभी महत्त्वपूर्ण ग्रथ इसी युग मे लिखे गए। इनमे कई तो ऐसे है, जिनका विश्व-व्यापी महत्त्व है, जैसे 'पारस्परिक सहयोग' और 'रोटी का सवाल' आदि। उनके क्रातिकारी लेखो के भी कई सग्रह भिन्न-भिन्न भाषाओ मे छपे थे और अनेक रचनाए हिन्दी मे भी छप चुकी है।

क्रोपाटकिन ने लन्दन मे सन् १८८६ मे 'फ्रीडम' नामक पत्र की स्थापना की, जो अबतक चल रहा है। इसी वर्ष क्रोपाटकिन के जीवन की एक अत्यत दु खमय घटना घटी, यानी उनके बडे भाई ने साइबेरिया से लौटते हुए रास्ते मे आत्मघात कर लिया। उन्हे भी देश-निकाले का दड दिया गया था, जिसके कारण बारह वर्ष उन्हे साइबेरिया मे बिताने पडे थे। जब उनके छुटकारे के दिन निकट आये तो उन्होने अपने बाल-बच्चो को पहले ही रूस रवाना कर दिया और फिर एक दिन निराशा से अभिभूत होकर अपने आपको गोली मार ली। वे महान् गणितज्ञ थे, खगोलशास्त्र के अदभुत ज्ञाता थे, और ज्योतिष-शास्त्र के बडे-से-बडे विद्वानो ने उनकी कल्पनाशील प्रतिभा की बहुत प्रशसा की थी। महज आशका के आधार पर उन्हे जारशाही ने देश-निकाले का दड दिया था, जबकि क्रातिकारी दलो से उनका कोई भी सबध न था। यदि उन्हे स्वाधीनतापूर्वक अपने खगोल-सबधी अनुसधान करने की सुविधा होती, तो उस शास्त्र की उन्नति मे न जाने वे कितने सहायक हुए होते। पर निरकुश शासको मे भला इतनी कल्पना-शक्ति कहा! क्रोपाटकिन के हृदय मे उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। इन दोनो भाइयो का प्रेम-पूर्ण व्यवहार आदर्श था, पर क्रोपाटकिन ने अपनी इस हृदय-वेधक दुर्घटना का जिक्र अत्यत सयम के साथ केवल एक वाक्य मे किया है—"हमारी कुटिया पर कई महीने तक दु ख की घटा छाई रही।" क्रोपाटकिन ने अपनी भाभी तथा भतीजे-भतीजियो की यथाशक्ति सेवा की।

क्रोपाटकिन की समस्त शिक्षाओ का आधार उनकी मनुष्यता थी। वस्तुत अराजकवाद इस विषय मे मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न है। मार्क्सवादियो की दृष्टि मे व्यक्ति का कोई महत्त्व नही। मार्क्सवादी उसके साथ शतरज के मुहरे की भाति व्यवहार करते है और सिद्धात-सबधी मतभेद होने पर उसके शरीर तथा आत्मा को अलग-अलग कर देने मे भी उन्हे कोई सकोच नही होता। पर अराजकवादी के लिए मनुष्य वस्तुत मनुष्य है, जिसके लिए मानो उसका हृदय उमडा पडता है। साम्यवादी को अपनी 'प्रणाली' की चिन्ता है, जबकि अराजकवादी को 'मनुष्य' की। जब भी कभी अन्याय तथा अत्याचार का प्रश्न आता, क्रोपाटकिन बिना किसी भेदभाव के उसका विरोध करते—चाहे वह अन्याय उनके विरोधी पथ वाले पर ही क्यो न किया गया हो। उनके शब्द सुन लीजिये—"हम व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानते है। हम उसके लिए जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओ का स्वतत्र विकास चाहते है। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नही चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धात पर पहुँचते है, जिस सिद्धात को प्योरिये ने धार्मिक नीति-ज्ञान के विरोध मे रखते हुए कहा था—"मनुष्य को बिल्कुल स्वतत्र छोड दो। उसे अगहीन मत बनाओ, क्योकि धर्म पहले से ही उसको अपग—जरूरत से ज्यादा अपग—बना चुका है।" उसके मनोविकारो से भी मत डरो। स्वतत्र समाज मे ये खतरनाक नही होते।"

प्रिस क्रोपाटकिन के ग्रथो को पढ जाइये, कही भी कोई क्षुद्र भावना उनमे दिखाई न देगी। कम्युनिस्ट साहित्य के शाब्दिक जजाल का उनमे नामो-निशान तक नही है। कम्युनिस्ट अर्थ को इतना महत्त्व देते है और नैतिकता को इतना नगण्य मानते है कि उनके साहित्य की लू-लपट मे किसी भी सहृदय मनुष्य की आत्मा झुलस सकती है। क्रोपाटकिन का साहित्य इसके बिल्कुल विपरीत है। उसमे नैतिकता की शीतल मन्द समीर सदा ही बहती रहती है।

क्रोपाटकिन के ४१ वर्षीय देश-निकाले के कितने ही किस्से उनके जीवन-चरित मे तथा उनके विषय मे लिखे सस्मरणो मे यत्र-तत्र बिखरे पडे

हैं, जिनसे उनकी सन्त-प्रकृति पर पूरा-पूरा प्रकाश पडता है। एक वार फ्रैंक हैरिस ने उनसे कहा—"आपने देखा, उन अराजकवादियो ने यौवनावस्था मे तो खूब काम किया, पर अब वे अर्थ-लोलुपता के शिकार हो गये हैं।" इसपर क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया—"उन लोगो ने जोश-जवानी के दिन हमारे अर्पित कर दिये और अपना सर्वोत्तम हमे भेट कर दिया। अब इससे अधिक की माग उनसे हम कर ही क्या सकते है?" यह उदारता ही क्रोपाटकिन के सपूर्ण जीवन की कुजी थी।

विलायत में रहते हुए क्रोपाटकिन की मैत्री वहा के सर्वश्रेष्ठ विचारको तथा कार्यकर्ताओ से हो गई थी। उनमे से कितने ही उनके प्रशसक थे। हिडमैन, बरनार्ड शा, लैन्सबरी, एडवर्ड कारपेंटर, नैविनसन और ब्रेल्स-फोर्ड प्रभति से उनके सवध वहुत निकट के थे। जब क्रोपाटकिन ७० वर्ष के हुए, तो उनके अभिनदन के लिए आयोजित एक सभा मे बरनार्ड शा ने कहा था—"मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इतने वर्ष तक हम लोग गलत रास्ते पर चलते रहे है, और क्रोपाटकिन का रास्ता ही ठीक था।" तपस्वियो तथा विचारको की विचारधारा बहुत धीरे-धीरे काम करती हैं। क्रोपाटकिन ने अपनी वाणी तथा लेखनी द्वारा जो महान कार्य किया, उसने केवल इग्लैण्ड ही नही, फ्रास, इटली, स्विटजरलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशो के विचारको को भी प्रभावित किया और जो विचार उन दिनो नवीन प्रतीत होते थे, वे आज सार्वजनिक वन गये है।

सन् १९१७ की रूसी-क्राति के वाद क्रोपाटकिन ने स्वदेश लौटना उचित समझा। तव वे ७५ वर्ष के हो चुके थे फिर भी उनके मन मे युवको-जैसा उत्साह था। पेट्रोग्रेड में ६० हजार आदमियो ने उनका स्वागत किया और रूसी सरकार के प्रधान केरेन्स्की भी उनके स्वागतार्थ उपस्थित थे। चूकि क्रोपाटकिन का विश्वास किसी भी सरकार में नही था, इसलिए उन्होने कोई सरकारी पद ग्रहण नही किया। वैसे केरेन्स्की के साथ उनके सवध अच्छे थे, पर लेनिन के हाथ में शक्ति पहुँचने पर क्रोपाटकिन सर्वथा उपेक्षा के ही पात्र वन गये !

क्रोपाटकिन के अन्तिम दिनो की एक झांकी एमा गोल्डमैन के आत्म-चरित 'लिविंग माइ लाइफ' मे मिलती है। उन्होने लिखा है—"रूस पहुँचने पर मुझे कम्युनिस्टो ने बार-बार विश्वास दिलाया था कि क्रोपाटकिन तो बडे आराम की ज़िन्दगी बसर कर रहे है और उन्हे न भोजन-वस्त्र की कमी है, न किसी अन्य वस्तु की। पर जब मै क्रोपाटकिन के घर पहुँची तो मामला इसके विपरीत ही पाया। क्रोपाटकिन, उनकी पत्नी सोफी तथा लडकी एलैक्जेडरा, तीनो एक कमरे मे रहते थे और वह कमरा भी काफी गरम नही था तथा पास के कमरे इतने ठडे थे कि उनका तापमान शून्य से भी नीचे था। उन्हे जो भोजन मिलता था वह बस जीवित रहने भर के लिए पर्याप्त था। जिस सहकारी समिति से उन्हे राशन मिलता था, वह टूट चुकी थी और उसके मेम्बर जेल भेज दिये गए थे। मैने सोफी से पूछा—"गुज़र-बसर कैसे होती है ?" उन्होने उत्तर दिया—"हमारे पास एक गाय है और बगीचे मे भी कुछ पैदा हो जाता है। साथी लोग बाहर से कुछ भेज देते है। अगर पीटर (क्रोपाटकिन) बीमार न होते और उन्हे अधिक पौष्टिक भोजन की जरूरत न होती तो हम लोगो का काम चल जाता।"

जार्ज लैन्सबरी इन्ही दिनो रूस गये हुए थे। उन्होने एमा गोल्डमैन से कहा था—"मुझे तो यह बात असभव दीखती है कि सोवियत सरकार के उच्च पदाधिकारी क्रोपाटकिन जैसे महान् वैज्ञानिक को इस प्रकार भूखो मरने देगे। हम लोग इगलैण्ड मे तो इस प्रकार के अनाचार को असह्य समझेगे।"

क्रोपाटकिन उन दिनो अपनी अन्तिम पुस्तक 'नीतिशास्त्र' लिख रहे थे। किताबो के खरीदने के लिए उनके पास पैसे नही थे। क्लार्क या टाइपिस्ट रखने की वे कल्पना भी नही कर सकते थे; इसलिए अपने ग्रथ की पाण्डुलिपि उन्हे खुद ही तैयार करनी पडती थी। भोजन भी उन्हे पुष्टिकर नही मिल पाता था, जिससे उनकी कमजोरी बढती जाती थी और एक धुंधले दीपक की रोशनी मे उन्हे अपने ग्रथ की रचना करनी पडती थी।

जब क्रोपाटकिन मरणासन्न हुए तो अवश्य लेनिन ने मास्को से सर्वश्रेष्ठ

डाक्टर और भोजन इत्यादि की सामग्री भेजी थी और यह आदेश भी दे दिया था कि क्रोपाटकिन के स्वास्थ्य के समाचार उनके पास बराबर भेजे जाय। जीवन के अन्तिम दिनो मे जिसे दमघोटू वातावरण मे रहने के लिए मजबूर किया गया, उसकी मृत्यु के समय इतनी चिन्ता का अर्थ ही क्या हो सकता था ? ८ फरवरी, १९२१ को क्रोपाटकिन का देहान्त हो गया। लेनिन की सरकार ने सरकारी तौर पर उनकी अन्त्येष्टि करने का विचार प्रकट किया, जिसे उनकी पत्नी तथा साथी-सगियो ने तुरत अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियो के मजदूर सघ के भवन से उनके शव का जुलूस निकला, जिसमे २० हजार मजदूर थे। सर्दी इतने जोरो की थी कि बाजे तक वर्फ के कारण जम गये। लोग काले झडे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—"क्रोपाटकिन के सगी-साथियो को, अराजकवादी बन्धुओ को जेल से छोडो।"

सोवियत सरकार ने डिमिट्रोव का छोटा-सा घर क्रोपाटकिन की विधवा पत्नी को रहने के लिए और उनका मास्को वाला मकान क्रोपाटकिन के मित्रो तथा भक्तो को दे दिया, जहा उनके कागज-पत्र, चिट्ठिया तथा अन्य वस्तुएँ सुरक्षित रही। सोफी १९३० तक जीवित रही और क्रोपाटकिन के नाम पर स्थापित म्यूजियम की रक्षा करती रही। इसके वाद वह सग्रहालय भी छिन्न-भिन्न कर दिया गया। पर स्वाधीनता का यह अद्वितीय पुजारी युग-युगान्तर तक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालय के सदृश महान और आदर्शवादिता गौरीशकर शिखर की तरह उच्च है।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

# सूची





# क्रांति की भावना

: १ :

## क्रांति की भावना

मानव-समाज के जीवन मे ऐसे अवसर आया करते है, जब क्रान्ति एक अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है, जब वह पुकार-पुकारकर कहती है कि वह अवश्यम्भावी है। हर तरफ नये विचार उत्पन्न हो जाते है, जो प्रकाश मे आकर लोगो के जीवन मे लागू होने के लिए जबर्दस्ती अपना मार्ग ढूढ निकालते है। जिन लोगो का स्वार्थ पुरानी व्यवस्था को कायम रखने मे ही सिद्ध होता है, उनकी अकर्मण्यता इन विचारो का विरोध करती है। पूर्व सस्कारो और लोक-परम्परागत रूढियो के श्वासरोधक वातावरण मे उन लोगो का दम घुटा करता है। राज-व्यवस्था के माने हुए विचार, सामाजिक सामजस्य के नियम और नागरिको के राजनैतिक तथा आर्थिक वातो मे पारस्परिक व्यवहार—इनमे से कोई भी उस अशान्त समालोचना के आगे खडे नही रह सकते, जो बैठकखाने मे, सार्वजनिक अड्डो मे, दार्शनिको के लेखो मे और रोज़मर्रा की बातचीत मे उनकी जड काटा करती है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सस्थाए टूटने-फूटने लग जाती है। हमारा सामाजिक भवन एसी स्थिति मे रहने योग्य नही रह जाता। वह उन अकुरो को भी, जो उसकी टूटी दीवारो के भीतर या उनके चारो ओर उगते है, रोकता है—विकसित नही होने देता।

एक नये जीवन की आवश्यकता प्रत्यक्ष हो जाती है। प्रतिष्ठित नैतिकता के साधारण विधान, जो अबतक अधिकाश लोगो के जीवन को

परिचालित करते रहे है, अब पर्याप्त नही जान पडते। जो बात पहले उचित लगती थी, वह अब चिल्ला-चिल्लाकर अपना अनौचित्य प्रकट करती मालूम होती है। कल की नैतिकता आज असह्य अनीति दिखाई देती है। पुरानी रूढियो और विचारो का सघर्ष समाज की प्रत्येक श्रेणी मे, प्रत्येक अवस्था मे और प्रत्येक कुटुम्ब के बीच प्रज्वलित हो उठता है। बेटा बाप से लड बैठता है। जो बात बाप को अपने सम्पूर्ण जीवन मे बिलकुल स्वाभाविक ज्ञात होती रही है, वही बात बेटे को बीभत्स जान पडती है। पुराने अनुभव से जो बाते माताए अपनी बेटियो को सिखाती है, बेटिया उनके विरुद्ध विद्रोह कर देती है। धनी और अधिकार-प्राप्त तथा चैन की बशी बजानेवाली श्रेणियो मे जो कलंक की बाते उत्पन्न हुआ करती है, शक्तिशालियो के कानून के नाम पर अथवा उनकी सुविधाओ की रक्षा के लिए जो जुर्म किये जाते है, सर्वसाधारण की आत्मा दिन-दिन उनके विरुद्ध होती जाती है। जो लोग न्याय की विजय के लिए लालायित रहते है अथवा जो लोग नवीन विचारो को काम मे लाना चाहते है, उन्हे शीघ्र ही यह मालूम हो जाता है कि इस समय समाज जिस प्रकार सगठित है, उसमे उनके उद्धार, मनुष्यतापूर्ण और नवजीवन सचारक विचार सफल नही हो सकते। उन्हे क्रान्ति की एक ऐसी आधी की आवश्यकता दिखलाई देने लगती है, जो समाज के समस्त सडे-गले अशो को उडा ले जाय, जो अपने पवित्र पवन से आलसी हृदयो मे स्फूर्ति भर दे और मानव-समाज में श्रद्धा, आत्म-त्याग तथा वीरता के भावो का सचार कर दे, जिन भावो के बिना समाज पतन और दुर्गुणो मे डूबकर बिलकुल छिन्न-भिन्न हो जाता है।

जब लोग धन कमाने के लिए पागलो की तरह उतावले हो जाते है, जब फाटकेबाजी का ज्वार-भाटा आता है, जब बडे-बडे व्यापारो का आकस्मिक पतन होता है, जब उत्पादन के अन्य अंगो का क्षणभगुर प्रसार होता है, जब लोग दो-ही-चार वर्षो में अगणित धनराशि बटोर लेते है और उतनी ही शीघ्रता से उसे खो बैठते है, तब ऐसे अवसरो पर यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि हमारी आर्थिक सस्थाए, जो उत्पादन और विनिमय का

नियन्त्रण करती हैं, समाज को सुख-समृद्धि देने से, जैसीकि उनसे आशा की जाती है, वहुत दूर हैं। वे उसका ठीक विपरीत फल पैदा करती हैं। वे शान्ति और सुव्यवस्था के स्थान मे अशान्ति और गडबडी उत्पन्न करती है, सुख-समृद्धि के स्थान मे दरिद्रता और अरक्षा के भाव पैदा करती है, भिन्न-भिन्न स्वार्थो मे मेल पैदा करने के स्थान मे युद्ध उत्पन्न करती है। वे धन-शोषको और मजदूरो मे आपस ही मे स्थायी युद्ध पैदा कर देती है। मानव-समाज दो प्रतिद्वन्द्वी भागो मे विभक्त हो जाता है। साथ ही प्रत्येक भाग सहस्रो छोटे-छोटे भागो मे विभाजित हो जाता है, जो आपस मे निर्दयतापूर्ण सग्राम बराबर जारी रखते है। इन सग्रामो से ऊबकर तथा इन सग्रामो से उत्पन्न हुए दु ख-दैन्य से ऊबकर समाज कोई नई व्यवस्था ढूढ़ निकालने के लिए दौड पडता है। वह सम्पत्ति के अधिकार के नियमो, उसके उत्पादन तथा विनिमय के नियमो और उनसे उत्पन्न होनेवाले आर्थिक सम्वन्धो को एकदम नये सिरे से ढालने के लिए जोर-जोर से पुकारने लगता है।

सरकार की मशीन, जिसपर वर्त्तमान व्यवस्था की रक्षा का भार होता है, अपना काम करती रहती है, परन्तु उसके घिसे हुए चक्को के प्रत्येक चक्कर मे वह फिसलकर वन्द होने लगती है। उसका चलना दिन-प्रतिदिन मुश्किल होता जाता है, जिससे उसके प्रति असतोष बराबर बढता जाता है। प्रतिदिन यही आवाज सुनाई देती है कि 'इसको दुरुस्त करो', 'इसको सुधारो'। सुधारकगण कहते है—"युद्ध, आर्थिक व्यवस्था, टैक्स, अदालते, पुलिस—प्रत्येक वस्तु का नये सिद्धातो के अनुसार पुन सगठन करो, फिर से ढालो।" यह बात सभी जानते है कि चीजो को फिर से बनाना—अकेली किसी चीज को फिर से ढालना—असभव है, क्योकि समस्त वस्तुएँ एक-दूसरे से सवधित है, अत सभी वस्तुओ को एक साथ तोडकर बनाना होगा। तव यह सवाल उठता है कि समाज का, जबकि वह दो विरोधी भागो मे विभक्त है, पुनर्निर्माण कैसे किया जाय? असतुष्ट लोगो को सतुष्ट करने से और भी नये असतुष्ट पैदा हो जायगे।

इस समय शासक-संस्थाओ की दशा बड़ी विचित्र होती है। वे सुधार करने में अशक्त होती है, क्योकि खुल्लम-खुल्ला सुधार का अर्थ होता है क्राति का रास्ता खोलना। साथ ही वे इतनी नपुसक होती है कि वे खुल्लम-खुल्ला सुधारो का विरोध भी नही कर सकती। फल यह होता है कि वे मामूली-से सुधार करती है, जिनसे सतोष उत्पन्न होने के स्थान मे और भी असतोष बढता है। ऐसे परिवर्तन के अवसरो पर प्रतिभाशून्य व्यक्तियो का, जिनके हाथ मे राज्य-नौका का परिचालन होता है, एक ही उद्देश्य हुआ करता है। वह है भावी महान् उलट-पलट के पूर्व धन बटोरकर अपना घर भर लेना। चारो ओर से आक्रमण होने पर वे बड़े अनाडीपन से अपना बचाव करते है। वे इधर-उधर की टाल-मटोल और एक के बाद दूसरी भयकर भूले किया करते है। शीघ्र ही वे अपने बचाव की अन्तिम कडी को काट देते है। सरकारी लोगो की निजी अयोग्यता से सरकार की प्रतिष्ठा उपहास के जल मे डूब जाती है।

ऐसे अवसरो पर क्राति की आवश्यकता होती है। क्राति एक सामाजिक आवश्यकता हो जाती है। ऐसे अवसर स्वय ही क्रातिकारी होते है।

जब हम बडे-बडे इतिहासकारो की पुस्तके पढते है तो उनमे मुख्य-मुख्य क्रातिकारी विप्लवो की उत्पत्ति और विकास के वृत्तातो मे 'क्राति के कारण' शीर्षक के अन्तर्गत क्राति की घटनाओ के ठीक पूर्व का बडा रोमाचकारी वृत्तात मिलता है। इन वृत्तातो मे लोगो की दुर्दशा, सर्वव्यापी सकट के भाव, सरकार को परेशान करनेवाले कानून-कायदे, समाज के बडे-बडे दुर्गुणो और कलको का नग्न भडाफोड, नये विचारो के प्रचलित होने के लिए छटपटाहट और पुरानी व्यवस्थाओ के समर्थको द्वारा उनका दमन, इत्यादि सभी बाते वर्णित होती है। इस चित्र को देखकर प्रत्येक मनुष्य को दृ विश्वास हो जाता है कि इन अवसरो पर क्राति सचमुच मे अवश्यम्भावी थी। विप्लव को छोड़कर और कोई मार्ग ही नही था।

उदाहरण के लिए सन् १७८९ के पहले फ्रास की दशा ले लीजिये। इतिहासकार उस दशा का कैसा वर्णन करते है! इतिहासकारो का वर्णन

पढकर आपको ऐसा मालूम होगा, मानो किसान लोग नमक के कर के विरुद्ध, दशाश-कर के विरुद्ध, और जमीदारो के लगान के विरुद्ध शिकायत कर रहे है, जिसकी आवाज आपके कानो मे आ रही है। उस वृत्तात को पढकर जान पडता है कि किसान लोग जमीदारो, महन्तो, एकाधिपत्य रखनेवाले व्यापारियो और सरकारी अहलकारो के विरुद्ध घृणा की प्रतिज्ञा कर रहे है। आपको दिखाई देगा कि लोग अपने नागरिक अधिकारो के छिन जाने का रज कर रहे है और वादशाह को गालिया दे रहे है। वे रानी को बुरा-भला कहते है, वे मत्रियो की कार्रवाई पर विक्षुब्ध है और लगातार चिल्ला रहे है कि करो का बोझ असह्य है, मालगुजारी बहुत है, फसल की दशा बहुत खराब है, जाडा बहुत जोर का है, खाद्यसामग्री बहुत महगी हो गई है, व्यापार का एकाधिपत्य रखनेवाले बडे लालची है, ग्रामीण वकील किसानो की फसल खा जाते है, गाव का चौकीदार छोटा-मोटा नवाब बना बैठा है, यहा तक कि डाकखाने का इन्तजाम भी ठीक नही है और उसके कर्मचारी बडे आलसी है। थोडे शब्दो में यो कहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को यही शिकायत है कि कोई भी चीज ठीक-ठीक काम नही करती। हर स्थान पर लोग यही कहते नजर आते है—"यह अधिक दिन नही चल सकता, इसका बडा भयानक अन्त होगा।"

परन्तु इन शातिपूर्ण दलीलो और क्राति या विप्लव के बीच एक बडी चौडी खाई है। यह वही खाई है जो अधिकाश मनुष्यो मे कहने और करने मे या विचार और इच्छा मे हुआ करती है। परन्तु यह खाई कैसे भरती है? यह कैसे सभव है कि जो लोग कलतक शातिपूर्वक हुक्का पीते समय अपने दुर्भाग्य पर झीका करते थे और स्थानीय पटवारी और दारोगा को गालिया दिया करते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्ही पटवारी और दारोगा को अदब से झुककर सलाम किया करते थे—यह कैसे सभव है कि वे ही आदमी दो-चार दिन बाद इस योग्य हो गए कि वे अपने हँसिये और धारदार गडासे लेकर उन्ही प्रभुओ के किलो पर, जो केवल एक दिन पहले ऐसे भयकर दिखाई देते थे, हमला करने लगे! जिन लोगो की पत्निया उन्हे कायर

कहा करती थी, वे ही एक दिन मे ऐसे वीर बन गए कि गोलो की वर्षा और गोलियो की बौछार मे घुसकर अपने अधिकारो को जीतने के लिए कदम बढाने लगे। यह किस जादू के बल पर हुआ ? शब्द जो मुख से निकलकर हवा मे विलीन हो जाया करते थे, कार्य मे कैसे परिणत हो गए ?

इसका उत्तर बहुत सहज है।

कर्म—अल्पाश लोगो का अविरल, अविश्राम कर्म ही ऐसे परिवर्तन ला देता है। साहस, लगन और त्याग की भावना, ऐसी ही सक्रामक वस्तुएँ है, जैसी कायरता, अधीनता और आतक।

यह कर्म क्या रूप धारण करेगा ? यह प्रत्येक रूप धारण कर सकता है। वास्तव मे परिस्थिति, स्वभाव और उपलब्ध उपायो के अनुसार, इस कर्म के बडे विभिन्न रूप हुआ करते है। कभी इस कर्म का रूप दु खान्त होता है तो कभी हास्यास्पद। लेकिन वह रूप सदा बडा दुस्साहसिक हुआ करता है। यह कर्म कभी सामूहिक रूप धारण करता है, कभी केवल व्यक्तिगत। कर्म की यह नीति किसी भी उपलब्ध उपाय को नही भूलती। असतोष फैलाने या उसे प्रकट करने मे, शोषणकारियो के प्रति घृणा उत्पन्न करने मे, सरकार की कमजोरियो का पर्दाफाश करने तथा उसका मज़ाक उडाने मे, और सबसे अधिक, वास्तविक दृष्टातो के द्वारा लोगो के साहस को जागृत करने तथा उनमे क्राति की भावना फैलाने के लिए कर्म की यह नीति किसी भी सार्वजनिक घटना को नही छोडती।

लोगो मे खुल्लम-खुल्ला विप्लव करने और सडको आदि मे उग्र प्रदर्शन करने का साहस उत्पन्न होने के पूर्व, किसी देश मे जो क्रातिकारी परिस्थिति उत्पन्न हुआ करती है, वह कुछ अल्पसंख्यक लोगो के कर्म का नतीजा है। यह अल्पसख्यक लोग अपने कर्मो से लोगो मे स्वतत्रता और साहस के उन भावो को उत्पन्न कर देते है, जिनके बिना कोई भी क्राति आगे नही बढ सकती।

क्राति मे सर्व-साधारण पहले भाग नही लेते। साहसी पुरुष, जो कोरे शब्दो से कभी सतुष्ट नही होते और सदा उन शब्दो को कार्य मे परिणत करने

का अवसर ढूढा करते हैं, ईमानदार एव न्यायनिष्ठ व्यक्ति, जिनकी मनसा, वाचा, कर्मणा, एक ही धुन है तथा जो अपने सिद्धातो के विरुद्ध चलने की अपेक्षा जेल, निर्वासन और मृत्यु को अधिक पसद करते है, और निर्भीक आत्माएँ, जो यह जानती है कि सफलता के लिए हिम्मत करना जरूरी है— ये तीनो ही क्राति के एकाकी सैनिक है जो सबसे पहले समर-भूमि मे कूदते है। इनके कूदने के बहुत पीछे सर्व-साधारण मे इतनी जागृति उत्पन्न होती है कि वे खुल्लम-खुल्ला क्राति का झडा उठा कर अपने स्वत्वो की प्राप्ति के लिए हथियार ग्रहण करके अग्रसर हो।

इस समस्त असतोष, बातचीत और सिद्धातो के वाद-विवाद के बीच मे किसी एक व्यक्ति का अथवा समूह का कोई क्रातिकारी कार्य उठ खडा होता है, जो लोगो की प्रबल उच्चाकाक्षाओ को मूर्त्तिमान बना देता है। सभव है कि आरम्भ मे सर्व-साधारण उस काम से बिल्कुल उदासीन रहे। विचक्षण और सचेत लोग तुरन्त ही ऐसे कामो को 'पागलपन' कह देते है। वे कहते है— "ये पागल लोग, ये उन्मत्त व्यक्ति, प्रत्येक चीज को सकट मे डाल देगे।" इसलिए यह भी सम्भव है कि आरम्भ मे सर्व-साधारण इन विचक्षण पुरुषो ही का अनुगमन करे।

ये विचक्षण और सतर्क व्यक्ति खूब हिसाब लगाया करते है। वे हिसाब लगाते है कि सौ, दो सौ या तीन सौ वर्षो मे उनकी पार्टी ससार भर को जीत लेगी, लेकिन बीच ही मे यह अप्रत्याशित घटना घुस पडती है। अवश्य ही उन विचक्षण व्यक्तियो को जिस बात की आशा नही होती, उसीको वे अप्रत्याशित समझते है। जिस किसी को भी इतिहास का थोडा भी ज्ञान और साधारण बुद्धि है, वह यह बात भली-भाँति जानता है कि क्राति के सिद्धातो का प्रोपेगेण्डा एक-न-एक दिन कार्य-रूप मे अवश्य ही प्रकट हो जाता है। यह दिन सिद्धातवादियो के सोचे हुए कार्य करने के दिन से बहुत पहले ही आ जाता है। जो हो, ये सचेत सिद्धातवादी इन पागलो पर खूब बिगडते है। वे उन्हे जाति से बाहर कर देते है और कोसा करते है, मगर ये पागल आदमी लोगो की सहानूभूति प्राप्त कर लेते है। सर्व-साधारण

छिपे-छिपे उनके साहस की प्रशंसा करते हैं। इन पागलो की नकल करने-वाले लोग पैदा हो जाते हैं। जिस सख्या मे क्राति के अग्रणी लोग जेलों और कालेपानी आदि को जाते है, उसीके अनुपात मे अन्य लोग उनका कार्य जारी रखते हैं। अवैध प्रतिवाद, विप्लव और प्रतिहिसा के कार्य बढते चले जाते है।

अब ऐसी स्थिति पहुँच जाती है कि जब उदासीनता असभव हो जाती है। जिन लोगो ने आरम्भ में कभी यह पूछने का कष्ट भी नही उठाया कि 'ये पागल आदमी क्या चाहते है, उन्हे भी मजबूर होकर इन पागलो की चिन्ता करनी पडती है। उन्हे उनके विचारो पर बहस करनी पडती है और उनके अनुकूल या प्रतिकूल पक्ष ग्रहण करना पडता है। ऐसे कार्यों के द्वारा जिनसे लोगो का घ्यान ख्वामख्वाह आकर्षित होता है, नये विचार लोगो के दिलो मे घर करते है,और नये अनुयायी उत्पन्न होते है। इस प्रकार का एक कार्य जितना प्रोपेगेण्डा कर देता है, उतना हजारो परचो से नही होता।

सबसे बडी बात तो यह है कि वह लोगो मे क्राति की भावना उत्पन्न करता है और वह उनमे दुस्साहस का अकुर उगाता है। पुरानी व्यवस्था (सर-कार) अपनी पुलिस, अपने मजिस्ट्रेट और अपनी फौज-फाटे के बल पर एकदम अचल और अजेय दिखाई पड़ती थी। वह ऐसी अचल और अभेद्य दिखाई पडती थी, जैसे बेसतिले का दुर्ग उस नि शस्त्र जन-समूह को अभेद्य दिखाई देता था, जो उसकी तोपे चढी हुई ऊँची दीवारो के नीचे एकत्रित हुआ था, मगर शीघ्र ही यह मालूम पड़ जाता है कि मौजूदा सरकार मे वह शक्ति नही है, जिसकी लोग कल्पना करते थे। केवल एक ही साहसिक कार्य सरकार की सपूर्ण मशीन को दो-ही-चार दिन मे उलट-पुलट डालने के लिए काफी हुआ। सरकार का भारी-भरकम भवन कापने लगा। एक अन्य विप्लव मे एक समूचे सूबे में गदर मच गया। सरकारी फौज ने, जो अबतक बडी प्रभावो-त्पादिनी दीख पडती थी, केवल एक मुट्ठी भर किसानो के सामने जिनके पास केवल डडे और पत्थर थे, पीठ फेर दी। लोगो ने देखा कि दैत्य उतना भयकर नहीं है, जितना वे समझते थे। उन्हे यह भी अस्पष्ट-सा दीखने लगा कि इस

प्रकार की दो-चार साहस-पूर्ण चेष्टाएँ इस दैत्य को मार गिरायेंगी। अब लोगों के मन मे आशा उत्पन्न होती है। यह बात भूल न जानी चाहिए कि क्रोध और क्षोभ लोगो को क्राति की ओर ले जाता है और आशा—विजय की आशा—ही सदा क्रातियाँ कराया करती है।

सरकार इसका विरोध करती है, वह दमन करने के लिए पागल हो उठती है, मगर जहाँ पहले सरकार का दमन अत्याचार-पीडितो की शक्ति को नष्ट कर देता था, अब सनसनीपूर्ण अवसरो पर वह एकदम विपरीत फल पैदा करता है। अब दमन से क्राति के अन्य कार्यो—व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही—को प्रोत्साहन मिलता है। अब उससे विद्रोही लोग वीरता की ओर अग्रसर होते है। इस प्रकार क्रातिकारी घटनाएँ बडी शीघ्रता से एक के बाद दूसरी घटती है, वे सर्वव्यापी हो जाती है और उनका विकास होता है। जो लोग अबतक क्राति के विरोधी और उदासीन थे, वे अब उसमे सम्मिलित हो जाते है, जिनसे वह और भी मजबूत हो जाती है। यह सर्वव्यापी गडबडी सरकार मे और शासक तथा अधिकार-प्राप्त श्रेणियो मे भी घुस जाती है। उनमे से कुछ लोग इस बात का उपदेश देते है कि दमन को अन्तिम सीमा तक चलाना चाहिए, दूसरे लोग कुछ रियायते करने के पक्ष मे होते है और अन्य कुछ लोग इस आशा मे अपने अधिकार भी त्यागने की घोषणा करते है कि लोगो के क्राति के भावो को शात करके वे फिर उनपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेगे। सरकार और अधिकार-प्राप्त लोगो की एकता भी टूट जाती है।

शासक वर्ग भयकर प्रतिक्रिया द्वारा (अर्थात् लोगो के मौजूदा अधिकारो को भी छीनकर) भी अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते है। मगर अब इतनी अधिक देर हो चुकी है कि ये सब बाते बेकार होती है। इससे सघर्ष और भी अधिक कटु और भयकर हो जाता है इनके सामने दिखाई पडने वाली क्राति और भी अधिक खूनी हो जाती है। इसके विरुद्ध शासक-वर्ग जो छोटी-से-छोटी रियायत भी करते है, तो उससे क्राति के भाव और भी अधिक जाग उठते है, क्योकि यह रियायत बहुत देर मे की जाती है और लोग यह समझते है कि उन्होने इसे लडाई मे जीता है। साधारण लोग, जो पहले छोटी-से-छोटी

रियायत पर ही सतुष्ट हो जाते, अव प्रत्यक्ष देखने लगते है कि उनके शत्रु के पैर उखड रहे है, उन्हे अपनी विजय दिखाई पडने लगती है। उन्हे अनुभव होता है कि उनका साहस वढ रहा है। जो आदमी पहले दु ख-दारिद्रय के नीचे पिसे हुए थे, और चुपके-चुपके ठडी सासे भरकर ही चुप रह जाते थे, वे ही अव गर्व के साथ सर ऊँचा उठाकर सुन्दर भविष्य की विजय के लिए निकल पडते हे।

अन्त मे क्राति जागृत हो उठती है। उससे पहले का सघर्ष जितना ही अधिक भयानक और कडुवा होता है, क्राति भी उतनी ही भयानक और कडुवी होती है।

क्राति कौन-सा रुख धारण करेगी, यह वात निस्सदेह उन घटनाओ के समूह पर निर्भर करती है, जो इस विप्लव की वाढ के आगमन को निश्चय करते हैं। मगर एक वात पहले से ही कही जा सकती है कि वह उन क्रातिकारी कार्यो के जोर के अनुसार होती है, जो विभिन्न प्रगतिशील दल क्राति की तैयारी के प्रारम्भ पर दिखलाया करते है।

कोई पार्टी अपने सिद्धान्तो को खूब अच्छी तरह प्रकट करती है। वह एक कार्यक्रम भी पेश करती है, जिसे पूरा करने की उसकी इच्छा है। वह उनके लिए भाषणो और परचो आदि के द्वारा खूब जोरदार प्रचार भी करती है, मगर यदि उसने अपने विचारो को कार्यो द्वारा खुल्लम-खुल्ला खुलेआम प्रकट नही किया, यदि उसने अपने प्रधान शत्रुओ के विरुद्ध कुछ नही किया, यदि उसने उन सस्थाओ पर आक्रमण नही किया, जिन्हे वह नष्ट करना चाहती है, यदि उसका वल केवल उसके सिद्धातो ही मे परिमित है—क्रिया में नहीं, यदि उसने क्राति के भाव उत्पन्न करने मे कुछ सहायता नही दी; अथवा यदि उसने उन भावो को उन वातो के विरुद्ध नही फैलाया, जिनपर वह क्राति के समय आक्रमण करना चाहती है, तो वह पार्टी वहुत कम प्रसिद्ध होती है, क्योंकि उस दल की आकाक्षाए रोजमर्रा के क्रातिकारी कार्यो के रूप में प्रकट नही हुई है और इन क्रातिकारी कार्यो का ही प्रकाश दूर-दूर की झोपडियो तक नही पहुचता है। वह पार्टी इसलिए प्रसिद्ध नही

होती कि वह सडक पर इकट्ठी होनेवाली भीड मे नही घुलती-मिलती, क्योकि वह लोक की लोकप्रिय पुकारो मे अपने को प्रकट नही करती।

इस पार्टी के सबसे चलते-पुर्जे लेखको को उनके पाठक यही समझते है कि वे ऊँची श्रेणी के विचारशील विद्वान है, मगर उनमे न तो काम करने वाले व्यक्तियो की-सी योग्यता है और न उनकी-सी इज्जत। जिस दिन क्राति भडक उठती है, उस दिन सर्व-साधारण इन बडे-बडे सिद्धान्तवादियो का अनुगमन न करके, उन लोगो की सलाह के अनुसार चलते है, जिनके सिद्धान्त तो इतने प्रसिद्ध नही है, परन्तु जिनको उन्होने कार्य करते देखा है।

जिस दिन काम करने का दिन आता है, जिस दिन सर्व-साधारण क्रान्ति के लिए धावा बोलता है, उस दिन उस पार्टी की बात सबसे अधिक सुनी जाती है, जिसने सबसे अधिक हिम्मत और दुस्साहस दिखाया है। मगर जिस पार्टी मे इतना साहस नही है कि वह अपने विचारो को क्रातिकारी तैयारी के जमाने मे क्रातिकारी कार्यो द्वारा प्रकट करती, जिस पार्टी मे व्यक्तियो को तथा जन-समूहो को प्रोत्साहित करने और आत्म-त्याग के भावो से उन्हे प्रेरित करने की शक्ति नही है, जिस पार्टी मे यह ताकत नही है कि वह लोगो मे अपने विचारो को कार्य-रूप मे प्रेरित करने के लिए अदम्य इच्छा उत्पन्न कर सके (यदि यह इच्छा उन लोगो मे पहले से उत्पन्न होती, तो वह जन-साधारण के क्राति मे सम्मिलित होने के पहले ही कार्य-रूप मे परिणत हो गई होती), जो पार्टी यह नही जानती कि वह अपने झण्डे को लोकप्रिय कैसे बनावे या अपनी इच्छाओ को किस प्रकार दूसरो पर प्रकट करके समझा सके, ऐसी पार्टी को अपना कार्यक्रम पूरा करने की बहुत-ही थोडी आशा है। देश के क्रियाशील दल उसे ढकेलकर एक ओर डाल देगे।

ये सब बाते हमे क्राति के पूर्ववर्ती समय के इतिहास से मालूम होती है। फ्रास के राजतत्र को नष्ट करने के पूर्व वहा के मध्यम श्रेणी के क्रातिकारी इन बातो को अच्छी तरह समझते थे और उन्होने एकतन्त्री शासन के विरुद्ध क्राति की भावना को जाग्रत करने के लिए कोई उपाय उठा नही रखा। अठारहवी सदी के फ्रासीसी किसान जमीदारो के अधिकार

उठा देने के प्रश्न के अवसर पर इन्हे मन-ही-मन समझते थे और जब इन्टर-नेशनल ने शहर के मजदूरो मे, मजदूरी करनेवाले के स्वाभाविक शत्रुओ अर्थात् पूँजीपतियो के, जिनके हाथ मे उत्पादन और कच्चे माल का एकाधिपत्य है, विरुद्ध क्राति के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की, तब उसने भी इन्ही सिद्धान्तो के अनुसार ही कार्य किया।

: २ :

# क्रांतिकारी सरकार

आज की मौजूदा सरकारे बिल्कुल खत्म कर दी जाय, ताकि स्वतत्रता, समानता और बन्धुत्व केवल खोखले शब्द-मात्र न रहकर वास्तविक रूप धारण कर सके। अबतक जितनी भी तरह की सरकारे बनाई गई है, वे केवल अत्याचार करने का एक नया ढोग साबित हुई है और इसलिए उन सबके बजाय समूहो का एक नवीन सगठन कायम किया जाय—इन बातो से कोई भी आदमी, जिसमे थोड़ी-सी भी अक्ल और अल्प मात्रा मे भी क्राति की भावना विद्यमान हो, इन्कार नही करेगा। इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए आदमी को बहुत बुद्धिमान होने की जरूरत नही। कोई भी आदमी आँखे खोलकर स्पष्ट देख सकता है कि आजकल की सब सरकारे दोषपूर्ण है और उनमे सुधार करना असभव है। जहातक सरकारो के उलटने का सवाल है, सबको मालूम है कि यह काम विशेष समय पर आसानी से किया जा सकता है। कभी-कभी तो ऐसे मौके आ जाते है जब क्रातिकारी जन-समूहो की एक आवाज के पहले ही सरकारें बताशे के महलो की तरह अपने आप ही ढह जाती है।

सरकार को उलट देना—मध्य वर्ग के क्रातिकारियो का बस यही अन्तिम उद्देश्य है; पर हमारे लिए तो वह सामाजिक क्राति की सिर्फ शुरुआत है।

जहा एक दफा शासन की मशीन बिगडी, अधिकारी-वर्ग अस्त-व्यस्त होकर किकर्त्तव्यविमूढ हो गया और सिपाहियो का अपने अफसरो से विश्वास उठ गया। एक शब्द मे, जब एकबार सरमायेदारो की सारी सेना नष्ट कर दी गई, तब हमारा महान् विनाशकारी कार्य प्रारम्भ होगा—यानी उन सब व्यवस्थाओ को तहस-नहस कर देना, जो राजनैतिक और आर्थिक गुलामी की जजीरो को मजबूत किये हुए थी। एक दफा जब हमे कार्य करने की स्वतत्रता मिल गई हो तब क्रातिकारियो का अगला कदम क्या होना चाहिए ?

इस प्रश्न का उचित उत्तर केवल अराजकवाद ही देता है—"कोई सरकार नही।" बाकी सब लोग कहते है—"क्रातिकारी सरकार"—और उनमे आपस मे भेद केवल शासन की व्यवस्था-विशेष के ऊपर है। उनमे से कुछ कहते है कि राज्य का शासन-प्रबन्ध बालिग मताधिकार द्वारा चुने हुए व्यक्तियो के हाथ मे हो, जबकि दूसरे लोग क्रातिकारी तानाशाही के पक्ष मे है।

क्रातिकारी सरकार! जो लोग सामाजिक क्राति और सरकार के वास्तविक अर्थो को जानते है, उनको ये दो शब्द साथ-साथ बडे अजीब जँचते है। असल मे ये दोनो परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे के लिए घातक है। 'स्वेच्छाचारी सरकारे' हमने बहुत देखी है—सरकार का तो मतलब ही यह है कि वह क्राति के विरोध मे प्रतिक्रियात्मक शक्तियो का साथ दे और स्वेच्छाचारिता की ओर बढती रहे। लेकिन 'क्रातिकारी सरकार' जैसी कोई चीज तो अभी तक हमारे देखने मे नही आई। और उसका कारण स्पष्ट है कि क्राति का मतलब है हिंसा द्वारा पूजी और वर्गो की मौजूदा व्यवस्था को उखाड फेकना और नैतिक धारणाओ को बदल डालना—और ये ही चीजे है जो 'सरकार' की बिल्कुल विरोधी और विपरीत है, क्योकि सरकार के पर्याय है 'स्थापित व्यवस्था' और 'पुरातनवाद', यानी आज की मौजूदा व्यवस्था को कायम रखना और स्वाधीनतापूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत स्वतत्रता का नितान्त अभाव। फिर भी हम लोग इस सीगवाले खरगोश की बात सुनते चले आ रहे है, मानो 'क्रातिकारी सरकार'

ऐसी ही आसान और सामान्य चीज हो—जैसी राजसत्ता, साम्राज्य और पोपडम !

यह कोई अचम्भे की बात नही कि मध्यवर्ग के तथा-कथित क्रांतिकारी ऐसा कहते हैं। हम लोग भली-भांति जानते है कि क्रांति से उनका मतलब क्या है। उनका मतलब है अपने प्रजातंत्र राज्य को सहारा देना और उनका उद्देश्य उन ऊँचे-ऊँचे पदो को हथियाना है जो अबतक राजभक्तो के हाथो मे थे। हद हुई तो उनका क्रांति से मतलब होगा राज्य और धर्म का गठबंधन तोडकर एक को दूसरे की रखैल बना देना—यानी धर्म की संपत्ति को राज्य को सौंप देना। अन्त मे इसका मतलब होगा इसी संपत्ति का भावी शासको द्वारा अपने फायदे के लिए इस्तेमाल। शायद वे जनमत-संग्रह या और कोई इसी तरह की भी बात कहते हो, लेकिन क्रांतिकारी समाजवादी भी ऐसे विचारो के प्रतिपादक हो सकते है—इसके केवल दो ही कारण हो सकते है—या तो उन्होने अपने दिमागो मे इकतरफा विचार—बिना उनको पूरी तरह समझे हुए—साहित्य से अथवा उस इतिहास से जो मध्यवर्ग के विचारो की हा-मे-हा मिलाने के लिए लिखा जाता है—भर लिये है—या वास्तव मे वे क्रांति चाहते ही नही, बावजूद इसके कि बातचीत वे उसीकी करते रहते है। वे मौजूदा व्यवस्थाओ की सिर्फ ऊपरी लीपापोती से संतुष्ट हो जायगे, बशर्ते कि सत्ता उनके हाथ मे आ जाय। फिर वे मनुष्य-रूपी जानवर को भविष्य मे संतुष्ट कर लेगे। वे आजकल शासको का विरोध इसलिए करते है कि उनकी जगह खुद ले सके। इन लोगो के साथ हम बहस नही करना चाहते। इसलिए हम उन्हीसे कहेगे, जो ईमानदारी के साथ भ्रम में फँसे हुए है।

प्रारम्भ मे हम क्रांतिकारी सरकार के प्रथम रूप को लें, जिसे निर्वाचित सरकार कहते है।

हम मान लेते है कि बादशाह की ताकत अभी हाल ही मे उलट दी गई है और पूंजी के पक्षपातियो की फौज परास्त हो गई है। हर जगह जोश है, सार्वजनिक कार्यों की चर्चा है और आगे बढ़ने की इच्छा भी। नये-नये विचार आग

आ रहे हैं। बडे-बडे परिवर्तनो की जरूरत महसूस हो रही हैं। आवश्यकता है तुरन्त कुछ करने की, ताकि नई जिन्दगी शुरू की जा सके। लेकिन वे इस समय कर क्या रहे हैं ? चुनाव के लिए जनता का आह्वान ! फिर वे तुरन्त ही एक सरकार निर्वाचित करके उसको सब काम सौपेंगे, वे काम जो हम सबको—प्रत्येक को—अपनी स्वेच्छा से करने चाहिए।

यही तो पेरिस मे १८ मार्च, १८७१ के बाद हुआ था। हमारे एक मित्र ने हमे सुनाया था, "मै आजादी के उन सुखप्रद क्षणो को कभी नही भूलूगा। पेरिस के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक की भारी भीड मे शामिल होने के लिए मै भी अपने कमरे से नीचे उतर आया था। प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक कार्यो की चर्चा कर रहा था। व्यक्तिगत झझटो और निजी कार्यो को सब भूल गए थे—खरीद-फरोख्त की कोई सोचता भी न था—सब भविष्य की ओर बढने को तन-मन-आत्मा से उत्सुक और लालायित थे। इस सार्वजनिक जोश की लहर मे मध्यवर्ग के आदमी भी वह गए थे और एक नई दुनिया को देख कर प्रसन्न थे। वे सब कह रहे थे—'अगर सामाजिक क्राति करना ही है, तो तुरन्त कर दीजिये—सपूर्ण सपत्ति सार्वजनिक कर दीजिये—हम सब तैयार है।' क्राति के सब सरजाम वहा मौजूद थे, जरूरत थी सिर्फ उन्हे काम पर लगाने की। जब मै रात को घर लौट कर आया तो मैने सोचा—'आखिर मानव-समाज कितना सुन्दर है ! हम उसे जानते ही न थे। अबतक तो उसकी निन्दा ही हुई है।' उसके बाद हुए चुनाव। कम्यून के मेम्बर चुने गए और फिर धीरे-धीरे सारा उत्साह और कार्य करने की इच्छा बिल्कुल समाप्त हो गई। हरएक आदमी अपने नित्य-प्रति के झझटो मे यह कहकर व्यस्त हो गया—'हमारे ऊपर अब ईमानदार सरकार है। हमारे बजाय वह काम करेगी।' उसके बाद जो कुछ हुआ वह सबको मालूम है।"

बजाय इसके कि जनता खुद कुछ करती, आगे बढती और एक नवीन व्यवस्था की ओर कदम बढाती, उसने अपने शासको पर विश्वास करके उन्हे स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार सौप दिया। चुनावो का यह पहला अनिवार्य नतीजा था। अब हम देखे कि उन शासको ने क्या किया, जिन्हे

सबने विश्वास करके गद्दी पर बिठला दिया था।

कम्यून के विरोधी भी इस बात को स्वीकार करते है कि मार्च १८७१ के चुनाव अभूतपूर्व ईमानदारी से हुए थे। आम जनता ने अपने सर्वश्रेष्ठ आदमी और वास्तविक क्रातिकारियो को चुनने के लिए इतना उत्साह कभी नही प्रदर्शित किया था। सब प्रसिद्ध क्रातिकारी भारी बहुमत से निर्वाचित हुए—डॉकोविन्स, ब्लैंकिस्टसे, इण्टरनेशनलिस्ट—तीनो क्रातिकारी पार्टियो के प्रतिनिधि कम्यून की कौंसिल मे चुने गये थे। किसी चुनाव मे इससे बेहतर सरकार आ ही नही सकती थी।

लेकिन इन सबका नतीजा क्या निकला? इन्हे नागरिक भवन के भीतर बैठकर पुरानी सरकारो द्वारा स्थापित व्यवस्थाओ के अनुसार काम करना पडा और उस वक्त इन उत्साही क्रातिकारियो और सुधारको को अपना नपुसकत्व और अपनी लाचारी महसूस हुई। बावजूद उनकी हिम्मत और उनके पीछे जनता की सद्भावना के, वे पेरिस की रक्षा का भी प्रबन्ध नही कर सके। अब आदमी इसके लिए उन व्यक्तियो को दोष देते है, लेकिन वास्तव मे दोष उन व्यक्तियो का नही था, बल्कि उस प्रणाली का था।

वास्तव मे बालिग मताधिकार द्वारा चुनाव ईमानदारी से हो, तो हद-से-हद ऐसे आदमी चुने जा सकते है, जो जनता के औसत आदमी की तत्कालीन राय का प्रतिनिधित्व करते हो। विप्लव के प्रारम्भ मे इस औसत आदमी के दिमाग मे अपने उद्देश्य की बहुत ही अस्पष्ट रूप-रेखा रहती है और उसको कार्यान्वित करने के तरीके के बारे मे वह बिल्कुल अनभिज्ञ रहता है। काश! राष्ट्र अथवा कम्यून का बहुमत आन्दोलन के पहले केवल इस बात को समझ पाता कि शासन-व्यवस्था को उलटने के बाद क्या करना है! अगर सरकारो मे विश्वास रखनेवालो की उन स्वप्न-दर्शियो की यह कल्पना सच हो जाती, तो कभी भी खूनी क्राति होती ही नही! उस स्थिति मे जहा राष्ट्र की अधिकाश जनता अपने इरादो को प्रकट कर देती, बस बाकी लोग खुशी से उसे मान लेते। लेकिन ऐसा होता नही, घटनाए इस तरह घटती नही। आम जनता के स्थिति को पूरी तरह

समझने के पूर्व ही क्राति हो जाती है और जिन व्यक्तियो को भली-भाति मालूम है कि उसके बाद क्या होना चाहिए, वे बहुत ही अल्पसख्यक होते है। जन-साधारण के मस्तिष्क मे तो अबतक केवल अपने मनोवाछित उद्देश्य की साधारण रूप-रेखा ही रहती है। न उनको यह मालूम होता है कि लक्ष्य की ओर आगे कैसे बढे और न उनको उस दिशा मे ही विश्वास होता है। व्यावहारिक हल तबतक नही मिल पाता और स्पष्ट हो पाता, जबतक कि परिवर्तन प्रारम्भ नही हो जाता। वह हल तो क्राति की उपज होगा, उसे कार्यशील जनता ही खोजेगी और अगर ऐसा नही हुआ तो वह हल बिल्कुल निरर्थक होगा—थोडे-से व्यक्तियो के मस्तिष्क इस प्रयत्न मे हमेशा नितात असफल रहेगे, ऐसा हल तो केवल जनता के जीवन से ही उद्भूत हो सकता है।

बालिग मताधिकार मे जो स्वाभाविक बुराइया है, उन्हे यदि दूर भी कर दिया जाय तो भी उसके द्वारा चुने हुए व्यक्तियो की यही उपर्युक्त स्थिति होगी। वे अपनेको इसी हालत मे पायगे, थोडे-से व्यक्ति जो इस समय की क्रातिकारी भावनाओ के सच्चे प्रतिनिधि है, अपनेको उन आदमियो के बीच मे बिलकुल दबा हुआ पायगे जो भूतकाल के क्रातिकारी विचारो और मौजूदा व्यवस्था के प्रतिनिधि है। ये सच्चे क्रातिकारी, जिनकी उपस्थिति जनता के बीच मे अत्यन्त आवश्यक है, खासकर क्राति के मौके पर, जनता को आन्दोलित करने के लिए और पुरानी व्यवस्थाओ को नष्ट करने के लिए आज अपनेको सभा भवन के अन्दर बन्द पाते है! और वहा वे करते क्या रहते है? नरम दलवालो से कुछ सुविधाए प्राप्त करने के लिए निष्फल बहस और अपने दुश्मनो को अपने मत का बनाने का असफल प्रयत्न! जबकि उन लोगो द्वारा नवीन विचारो को ग्रहण कराने का केवल एक ही रास्ता है, यानी उन विचारो को कार्य-रूप मे परिणत कर देना। इस तरह यह सरकार एक विधान मण्डल मात्र रह जाती है और उसमे मध्यवर्ग के विधान मण्डल की सभी बुराइया घुस बैठती है। क्रातिकारी सरकार बनने के बजाय वह उल्टी

क्राति के मार्ग मे सबसे बडा रोडा बन जाती है और अत मे जनता को उसे हटाने के लिए मजबूर होना पडता है। इस प्रकार उन व्यक्तियो को ही पदच्युत करना पडता है, जिन्हे वे कलतक अपना प्रतिनिधि मानने मे गौरव अनुभव कर रहे थे।

लेकिन उन्हे हटाना इतना आसान नही होता। नई सरकार, जिसने शीघ्रता से एक नवीन शासन-व्यवस्था कायम कर ली है, ताकि वह अपना प्रभुत्व बढा सके और अपनी आज्ञाए पालन करा सके, आसानी से हटना नही जानती। वह अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिए अत्यन्त उत्सुक होने के कारण उससे चिपट जाती है, और इसमे उसे शक्ति मिलती है उस बडी सस्था---राज्य---से जो अभीतक बिल्कुल नष्ट नही हुई। वह सरकार जनता की शक्ति का मुकाबला करने की ठान लेती है और उस हालत मे उसे हटाने का केवल एक तरीका रह जाता है---यानी हथियारो की मदद से दूसरी क्राति कर दी जाय और उन्ही व्यक्तियो को उखाड फेका जाय, जिनपर जनता ने आशाए बाध रखी थी।

अब आप देखते है कि क्रातिकारी दल मे ही फूट पड गई। वैसे ही देरी करके बहुत-सा बहुमूल्य समय नष्ट हो चुका था, अब क्राति की शक्ति उन आपसी झगडो मे नष्ट होने लगती है जो नये शासन के समर्थको और विरोधियो मे चलते है। यह सब हुआ क्यो? क्योकि हमने इस तथ्य को नही समझा कि नई जिन्दगी के लिए एक नवीन व्यवस्था की आवश्यकता होती है और पुरानी सस्थाओ से चिपके रहने से क्राति असम्भव है; और क्योकि यह बात हमारी अक्ल मे नही आई कि क्रान्ति और सरकार दोनो परस्पर विरोधी चीजे है, चाहे वे कोई भी रूप धारण करे, उनका साथ-साथ चलना असम्भव है, और यह कि अराजकवाद के बाहर क्रांति नाम की कोई चीज है ही नही।

और यही हालत 'क्रातिकारी सरकार' के उस दूसरे रूप की है, जिसे 'तानाशाही' (अधिनायकतन्त्र या डिक्टेटरशिप) कहते है।

जो नतरे क्राति के मार्ग मे, जब वह अपने को निर्वाचित सरकार के

अधीन छोड देती है, आते है, वे इतने स्पष्ट है कि क्रातिकारियो का एक पूरा दल ही उस तरीके को बिल्कुल त्याज्य समझता है। ये लोग जानते है कि विद्रोही जनता चुनावो द्वारा केवल वैसी ही सरकार पा सकती है जो पुरानी व्यवस्था की प्रतिनिधि होगी और जो जनता के पैरो मे लोहे की जजीर साबित होगी और यह ऐसे मौके पर, जब उसे सामाजिक क्राति करनी है यानी जब उसे सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक पुनर्जीवन प्राप्त करना है। इसलिए वे नियमानुकूल सरकार के विचारो को फालतू समझते है—कम-से-कम उस समय तक के लिए जब कानून के ही विरुद्ध विद्रोह है। और वे क्रातिकारी तानाशाही का समर्थन करते है।

वे कहते है, "जो पार्टी सरकार को उखाड देगी, वही उसकी जगह ले लेगी। वह ताकत हथियाकर जोश से काम करना शुरू करेगी और विद्रोह को सफल बनाने के लिए आवश्यक साधन जुटायगी। पुरानी व्यवस्थाओ को वह नष्ट कर देगी और देश की रक्षा का प्रबन्ध करेगी। और वे व्यक्ति, जो इस पार्टी का प्रभुत्व नही मानेगे, अथवा जो सरकार की आज्ञाए—जो क्रान्ति की प्रगति के लिए आवश्यक है—मानने से इन्कार करेगे—फिर चाहे वे जनता के या मध्यवर्ग के आदमी हो—उनके लिए बस फासी का तख्ता है।" अब भी फासी! देखिये ये भावी क्रातिकारी कैसी बाते करते है! ये शताब्दी की उस महान् घटना (फ्रास की राज्यक्राति) के केवल पतनकाल का ही इतिहास जानते है—इतना सारा ज्ञान उसके विषय मे पिछलगुओ के व्याख्यानो तक ही सीमित है।

पर हम अराजकवादियो के लिए तो तानाशाही—चाहे वह एक व्यक्ति की हो या एक पार्टी की, अन्तत वह एक ही चीज है—सदा के लिए त्याज्य है। हम जानते है कि क्रान्ति और सरकार साथ-साथ चल ही नही सकते। चाहे सरकार को कुछ भी नाम दिया जाय—तानाशाही, बादशाही अथवा विधान मण्डल, क्राति को तो वह नष्ट करेगी ही। हमारी पार्टी की शक्ति और उसके विचारो की सचाई इस सूत्र मे है, "कोई भी अच्छी अथवा स्थायी चीज बिना जनता की स्वतन्त्र स्वेच्छा के नही हो सकती और

प्रत्येक सरकार उस स्वेच्छा को नष्ट नही करती है।" इसलिए हममें से सर्वश्रेष्ठ भी यदि उस महान् मशीन (यानी सरकार) के सचालक हो जाय और यदि हमारे विचारो की कार्यरूप मे परणति होने के पहले, जनता द्वारा जाच-पडताल न हो गई हो, तो एक हफ्ते के भीतर ही हम फासी के तख्ते पर भेजे जाने के योग्य हो जायगे। हम जानते है कि प्रत्येक तानाशाही का—चाहे वह सद्विचारो से कितनी ही प्रेरित हो—अन्तत मतलब होता है सब क्रातिकारी आन्दोलनो का खात्मा। हम यह भी जानते है कि यह तानाशाही का विचार केवल सरकार की प्राचीन प्रतिष्ठा और उपासना की निकृष्ट उपज है, जिसने धार्मिक उपासना की भाति सदा ही गुलामी की जजीरे मजबूत की है।

लेकिन इस वक्त हम अराजकवादियो से बात नही कर रहे। इस समय तो हमारा निवेदन है सरकारी क्रातिकारियो से, जो अपनी पुस्तको के इकतरफा विचारो को पढकर गुमराह हो गए है और भूल से अन्धकार मे पड गए है और इस प्रश्न को केवल अच्छी तरह समझना चाहते है।

पहले एक साधारण बात ही ले। जो व्यक्ति तानाशाही का पक्ष-समर्थन करते है, वे यह नही देख पाते कि वे इस तरह उन आदमियो के लिए रास्ता साफ कर रहे है जो आगे चलकर उन्हीका गला काटेंगे। अच्छा हो कि रॉब्सपियर का एक वाक्य उसके प्रशसक याद रखे। मैडर ने जब उस से तानाशाही के बारे मे कहा, तो रॉब्सपियर ने जो सिद्धातत तानाशाही का विरोधी न था, उत्तर दिया, 'लेकिन आप अच्छी तरह समझ ले ब्रीसट डिक्टेटर बन बैठेगा, हा, ब्रीसट जीरोडिन पार्टी का चालाक सदस्य, जो जनता की समानता की भावनाओ का जबर्दस्त दुश्मन था, सम्पत्ति का प्रबल समर्थक था (यद्यपि वह कभी इसे चोरी भी कहता था) और जो बिना किसी रहम के हीबर्ट मैरट तथा अन्य नरमदली जैकोबिन्स को कारागार मे डाल देता!

यह बात सन् १७९२ मे कही गई थी। तब फ्रास मे तीन साल से क्राति थी। वास्तव मे बादशाहत यहा उस समय नही रही थी, उसे केवल दफनाना

शेष था, सामन्तशाही का युग खत्म हो चुका था। इस समय भी जब क्राति अबाध रूप से आगे बढ रही थी, ब्रीसट जैसे क्राति-विरोधी के तानाशाह बनने की सबसे अधिक सम्भावना थी। इसके पहले सन् १७८९ मे तानाशाह बनने की सबसे अधिक सम्भावना किसकी थी ? उस समय मिराबो को शासन का प्रधान मान लिया गया होता। उसी मिराबो के हाथो, जिसने अपनी वक्तृत्व कला को राजा के हाथ बेच दिया था, शासन-अधिकार सौप दिये गए होते, यदि उस समय विद्रोही जनता ने अपनी सत्ता न जमा दी होती और उसके बाद उसने निरन्तर अपने अकुश मार कर पेरिस अथवा सूबो में बनी प्रत्येक सरकार को न तोड दिया होता।

लेकिन सरकार मे अन्ध-विश्वास तानाशाही के समर्थको को इतना अन्धा बना देता है कि जब जनता गुलामी की जजीरे तोडने मे सलग्न है तो वे बजाय इसके कि जनता को वैसा करने के लिए स्वतन्त्र छोड दे, उसके ऊपर नये ब्रीसट अथवा नैपोलियन लाद देना पसन्द करते है।

राजा के पुन स्थापन और लुई फिलिप के समय की गुप्त सभाओ के कारण तानाशाही के पक्ष मे विचार और भी दृढ हो गए। मध्यवर्ग के प्रजातत्रवादियो ने मजदूरो की सहायता से बादशाहत को उखाडने और प्रजातत्र घोषित करने के लिए कई षड्यन्त्र रचे थे। वे नही जानते थे कि फ्रास मे प्रजातन्त्र राज्य स्थापित होने के पहले कितने महान आमूल परिवर्तन करने होगे। वे समझ बैठे थे कि सिर्फ एक षड्यन्त्र द्वारा वे बादशाहत को उलटकर ताकत हथिया लेगे और फिर तुरन्त प्रजातन्त्र घोषित कर देगे। तीस साल से अधिक समय तक ये गुप्त सभाए दृढ निष्ठा अत्यधिक उत्साह और प्रेरणा से निरन्तर कार्य करती रही। अगर १८४८ के विद्रोह के बाद प्रजातन्त्र स्थापित हो सका, तो उसका श्रेय इस तीस साल के प्रचार को ही है। बिना उसके प्रजातन्त्र स्थापित होना असम्भव था।

इन गुप्त सभाओ का उद्देश्य था कि शक्ति हाथ मे लेकर प्रजातान्त्रिक

तानाशाही स्थापित कर देगे। लेकिन वे इसमे सफल नही हुए। और यह सदैव की भाति अवश्यम्भावी था, क्योकि राजतन्त्र को षड्यन्त्र आमूल नष्ट नहीं कर सकते। यह ठीक है कि षड्यन्त्रकारियो ने उसके पतन की तैयारिया कर दी थी। उन्होने जनता मे प्रजातांत्रिक विचार फैला दिये थे और उनके शहीदो के कारण ही जनता ने प्रजातन्त्र को अपना आदर्श बनाया था। लेकिन जिस अन्तिम चोट ने निश्चय रूप से मध्यवर्ग द्वारा रक्षित राजा को उखाड फेका, वह गुप्त सभाओ के कार्यो से कही अधिक महान् और शक्तिशाली था—वह था जनता-जनार्दन का प्रयत्न।

नतीजा सबको मालूम है। जिन व्यक्तियो ने राजशाही के पतन के लिए प्रयत्न किये थे, वे शासन-सत्ता से बहुत दूर फेक दिये गए। अन्य व्यक्ति, जो अपनी चालाकी से इन षडयन्त्रो से दूर रहे थे, जो नरम दल के नाम से प्रसिद्ध थे और जो शासन-सत्ता के लेने के मौके की बाट जोह रहे थे, आगे आ गए और उन्होने उस ताकत को अपने हाथो मे ले लिया जिसके ऊपर षड्यन्त्रकारी आशा लगाये बैठे थे। वे पत्रकार, वकील और निपुण वक्ता जो भाषण दे-देकर यश कमा रहे थे—जब सच्चे प्रजातत्रवादी या तो हथियार बना रहे थे या जेलो मे सड रहे थे—अब आगे आ गए और ताकत अपने हाथ मे ले ली। जनता ने उनमे से कुछ का, जो सुप्रसिद्ध थे, जयघोष किया और शेष ने वैसे ही अपने को आगे कर लिया और वे केवल इसलिए नेता स्वीकार कर लिये गए क्योकि उन्होने हर आदमी से हर बात मे सहमत होने के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया था।

यह कहना फिजूल है कि यह सब इसलिए हुआ कि काम करनेवाली पार्टी मे व्यावहारिक व्यक्तियो की कमी थी और भविष्य में दूसरे लोग उससे अधिक सफल हो सकेगे। नहीं, कदापि नही। यह तो एक उतना ही अचल सिद्धान्त है जितने कि आकाश के नक्षत्रो का संचालन करनेवाले नियम, कि जो पार्टी काम करती है वह अवश्य ही एक ओर फेक दी जायगी और कूटनीतिज्ञ और फालतू बाते करनेवाले ताकत हथिया लेंगे। वे हमेशा जनता के बीच मे अधिक विज्ञापित होते हैं। उनको वोट भी ज्यादा

मिल जाते है—उसे मत-गणना कहिये या और कुछ, चुनाव या जय-घोष—और वास्तव मे हमेशा ऐसे मौको पर केवल जय बोलने को चुनाव का नाम दे दिया जाता है। सब आदमी इन व्यक्तियो की जय बोलने लगते है। और सबसे अधिक जय वे बोलते है जो पहले क्राति के विरोधी थे और जो इस समय बिल्कुल नाचीज फालतू आदमियो को चुनाव के लिए खडा कर देते है और इस प्रकार इस जय-जयकार मे वे व्यक्ति शासक स्वीकार कर लिये जाते है जो वास्तव मे या तो आन्दोलन के दुश्मन है या उसके प्रति बिल्कुल उदासीन।

उस व्यक्ति ने, जो औरो से कही अधिक षड्यन्त्रो की इस प्रणाली का जनक था और जिसने जिन्दगी भर जेल मे रहकर क्राति की आराधना का मूल्य चुकाया था, मृत्यु से पहले ये शब्द कहे थे, "न हमे ईश्वर चाहिए और न शासक।" इन शब्दो मे सम्पूर्ण कार्यक्रम निहित है।

क्रातिकारी सरकारो की नपुसक गुप्त सभाए सरकार को उलट कर उसका स्थान ले लेगी, यह एक ऐसी कल्पना है कि इसके गढे मे वे सब क्रातिकारी सस्थाए, जो १८२० से मध्यम श्रेणी के प्रजातत्रवादी व्यक्तियो के बीच उठी थी, गिर पडी। इतिहास की घटनाए हमे बतलाती है कि यह कितनी बडी भ्रान्ति है। 'नवीन इटली' नाम की पार्टी की प्रजातत्रवादी गुप्त सभाओ ने कितनी लगन, उत्साह और आत्मोत्सर्ग से काम किया था! वे सब महान कार्य, वे त्याग, जो इटली के नवयुवको ने किये थे और जिनके सामने रूस के क्रातिकारी नवयुवको के त्याग भी फीके पड जाते है—आस्ट्रिया के किलो मे सहस्रो की लाशे और हजारो को फासी—इन सबके बावजूद क्या हुआ? आखिर मे शासन-सत्ता मध्यवर्ग के और राजघराने के कुछ चालाक, धूर्त व्यक्तियो के हाथ मे पहुच गई।

और यह अवश्यम्भावी है, इसके सिवा और कुछ हो ही नही सकता, क्योकि शासन-व्यवस्था का बिलकुल खात्मा करना गुप्त सभाओ अथवा क्रातिकारी सस्थाओ के बूते का काम नही। उनका महान् कार्य और उद्देश्य तो जनता के मस्तिष्क को क्राति के लिए तैयार कर देना है। जब जनता तैयार

हो गई और परिस्थितिया अनुकूल हो गई, तब सत्ता को आखिरी धक्का दिया जाता है, और यह आखिरी धक्का वह दल नही देता, जिसने आन्दोलन चलाया था, वरन् जन-साधारण—जो उस दल से विल्कुल वाहर थे—देते है। ३१ अगस्त को पेरिस की जनता ब्लैंकी की वात भी सुनना नही चाहती थी। चार दिन वाद ब्लैंकी ने सरकार के पतन की घोषणा की, लेकिन तबतक आन्दोलन ब्लैंकी अथवा उसके अनुयायियो के हाथ मे नही रहा था। जनता के लाखो ही आदमियो ने मिलकर उस व्यक्ति को गद्दी से उतारा था और उन धूर्तो को शासक चुना था, जिनके नाम दो साल से उनके कानो मे गूज रहे थे। जव विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होनेवाली होती है, जव आन्दोलन की लहर चारो ओर फैल जाती है और जव उसकी सफलता प्राय निश्चित हो जाती है, तब हजारो ही ऐसे व्यक्ति, जो आन्दोलन के प्रभाव से विल्कुल अछूते थे, आन्दोलन मे शामिल होने के लिए ऐसे ही आ टपकते है जैसे ठीक समय पर गिद्ध श्मशान-भूमि मे लाशो के लिए इकट्ठे हो जाते है। ये व्यक्ति अन्तिम प्रयत्न मे सहयोग देते है। लेकिन उसके वाद वे अपना नेता सच्चे और पक्के षड्यत्रकारियो मे से नही, वरन् ढुल-मुल यकीन व्यक्तियो मे से चुनते है और तव षड्यत्रकारी, जिनके दिमाग मे अव भी तानाशाही के पक्ष मे विचार भरे है, जान-वूझकर अपने इन दुश्मनो को ही शासन-सत्ता सौंपने का उपक्रम करते है। यदि यह सवव जो अभी हमने कहा है राजनैतिक क्रातियो अथवा विद्रोहो के वारे मे सच है, तो उससे भी अधिक सच यह उस क्राति के विषय मे है, जिसे हम चाहते है, यानी सामाजिक क्राति। सरकार को—एक शक्तिशाली और अधिकृत सस्था को—किसी भी रूप मे स्थापित होने देने के मानी है, क्राति के कार्य का तुरन्त खात्मा कर देना। यह सरकार कोई हितकर काम तो कर नही सकेगी, उल्टे बुराइयो की हद कर देगी।

क्राति से हमारा तात्पर्य क्या है? उसके मानी यह नही है कि शासको में परिवर्तन कर देना। उसका वास्तविक अर्थ है सामाजिक सम्पत्ति के ऊपर जनता का अधिकार, उसके मानी है उन सब शक्तियो को नष्ट कर

देना, जो अवतक मनुष्य-समाज की प्रगति मे वाधक रही है। लेकिन क्या यह महान् आर्थिक क्राति एक सरकार के द्वारा निकाले हुए आर्डीनेन्सो द्वारा हो सकती है ? हम पिछली शताब्दी मे देख चुके है कि पोलैण्ड के क्रातिकारी तानाशाह कौशसको ने व्यक्तिगत गुलामी को बन्द करने की आज्ञा निकाल दी थी और उस आज्ञा के अस्सी वर्ष बाद तक वह प्रथा जारी रही थी। हम महान् शक्तिशाली कनवेशन, जिसे उसके प्रशसक 'भयकर कनवेशन' भी कहते है, को भी देख चुके है। उस कनवेशन ने जागीरदारो की जब्त की हुई जमीन को प्रत्येक आदमी को बरावर-बरावर बाटने का आदेश दिया था। अन्य आदेशो की तरह यह भी कागजो मे पडा सडता रहा, क्योकि अमल मे लाने के लिए यह आवश्यक था कि देहातो का शोषित समाज एक बिल्कुल नई क्राति करे, और क्रातिया कभी सरकारी आदेशो से नही होती। जनता सामाजिक धन तथा साधनो को अपने हाथ मे ले सके, इसके लिए आवश्यक है कि उसको चाहे कुछ भी करने की आजादी हो। उस महान् परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि जनता गुलामो की आदतो को, जिनकी वह अबतक अभ्यस्त रही है, कतई छोड दे और वह अपनी इच्छा से विना किसी आज्ञा का इन्तजार किये आगे बढ चले। तानाशाही, चाहे वह कितनी ही समीक्षाओ से प्रेरित हो, इस चीज का विरोध करेगी और इसलिए तानाशाही के लिए यह बिल्कुल असम्भव है कि वह क्राति को रत्ती भर भी आगे वढा सके।

और जब कोई सरकार, चाहे वह एक आदर्श क्रातिकारी सरकार ही क्यो न हो, जनता मे कोई नई लहर पैदा नही कर सकती और हमारे उस महान् विध्वस-कार्य मे विल्कुल सहायक नही हो सकती, तो पुनर्संगठन के कार्य मे, जो विध्वस के वाद प्रारम्भ होगा, उससे और भी कम आशा की जा सकती है। सामाजिक क्राति के फलस्वरूप जो आर्थिक क्राति होगी, वह इतनी महान् और गम्भीर होगी, वह सम्पत्ति और विनिमय की मौजूदा व्यवस्थाओ मे इतने परिवर्तन करेगी कि किसी मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि वह विभिन्न सामाजिक सस्थाओ

का—जो भावी समाज मे स्थापित होगी, विस्तृत वर्णन कर सके। इन नई सामाजिक सस्थाओ का विस्तृत ब्यौरा केवल जनता की सामूहिक शक्ति ही दे सकती है। व्यक्तिगत पूजी के खतम होते ही जो तरह-तरह की आवश्यकताएँ और परिस्थितिया उपस्थित होगी, उनका मुकाबला केवल सम्पूर्ण जनता के सयुक्त विचार ही कर सकते है। कोई भी वाहरी शक्ति उस मे केवल वाधक ही न होगी, वल्कि उससे घृणा और झगडे उत्पन्न होगे।

लेकिन अव वक्त आ गया है कि हम 'क्रातिकारी सरकार' की इस माया को, जो कई दफा झूठी और इतनी महगी सावित हो चुकी है, सदा के लिए तिलाजलि दे दे। अव भी समय है कि हम सव राजनीति-शास्त्र के इस तत्त्व को स्वीकार कर ले कि सरकारो का क्रातिकारी होना असम्भव है। कुछ व्यक्ति कनवेशन की मिसाल देते है। लेकिन हमे यह नही भूलना चाहिए कि जो थोडे-से कार्य कनवेशन ने किये थे—और वे वहुत क्रातिकारी भी नही थे—वे केवल उस जनता के किये हुए कामो के ऊपर सिर्फ सरकारी मुहर-से थे जो उस समय प्रत्येक सरकार को पद-दलित कर रही थी। जैसा कि विक्टर ह्यूगो ने कहा है—रॉब्सपियर को डाण्टन ने हटाया, मारेट ने डाण्टन की गद्दी ली और वाद मे खुद मारेट को सीमोर-डेन के लिए जगह खाली करनी पडी—और ये व्यक्ति उस समय के उत्साही विद्रोहियो के विभिन्न दलो के प्रतिनिधि थे। वास्तव मे कनवशन भी उससे पहले और उसके वाद की वनी हुई सव सरकारो की भाति ही जनता के कार्य में वाधक ही सिद्ध हुआ था।

इतिहास इस दिशा मे जो तथ्य हमें वतलाता है, वे इतने अकाट्य है और सरकार के क्रातिकारी होने की असम्भवता और उसके हानिकर फल इतने स्पष्ट है कि यह समझना भी मुश्किल मालूम होता है कि अपने को साम्यवादी कहनेवाला एक वर्ग-विशेष सरकार के पक्ष मे विचार कैसे रख सकता है। लेकिन इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि अपने को साम्यवादी कहनेवाले इन व्यक्तियो की, और हमारी, क्राति के विषय मे विल्कुल भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। मध्यवर्ग के प्रजातन्त्रवादियो की भांति उनके लिए सामाजिक

क्राति तो सुदूर भविष्य की चीज है, जिसके विषय में उनकी राय में अभी सोचना भी व्यर्थ है। उनके मस्तिष्क मे जो कल्पना है यद्यपि उसके स्पष्ट करने की हिम्मत उनमे नही है, तथापि वह तो बिल्कुल भिन्न है। वह कल्पना यह है स्विटज़रलैण्ड अथवा सयुक्त राज्य अमरीका की तरह की सरकार की स्थापना, और फिर समाज के लिए कुछ आवश्यक और उपयोगी वस्तुओ को राज्य के लिए जब्त कर लेना। उनका आदर्श बिस्मार्क के आदर्श से कुछ मिलता-जुलता है। वह जन-साधारण की साम्यवादी आकाक्षाओ और मध्य वर्ग की पद-लालसा के बीच अग्रिम समझौता है। वास्तव मे उनकी इच्छा तो अवश्य रहती है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति जनता के हाथ मे आ जाय, लेकिन ऐसा करने की उनमे हिम्मत नही। इसलिए उसे वे अगली शताब्दी के लिए टाल देते है और ुद्ध के पहले ही दुश्मन से सुलह की बातचीत शुरू कर देते है!

: ३ :

# नीति और जीवन

मानवीय विचार का इतिहास हमे पेण्डुलम के झूलने का स्मरण दिलाता है, जिसके झूलने मे शताब्दिया लग जाती है। चिरकालीन निद्रा के बाद जब जागरण का समय उपस्थित होता है तो मानवीय विचार अपने को उन शृखलाओ से मुक्त कर डालता है, जिन शृखलाओ से शासक, कानून-पेशावाले और धर्म-याजको ने अपने स्वार्थ के लिए उसे बडी सावधानी से आवेष्टित कर रखा है।

वह शृखलाओ को छिन्न-भिन्न कर डालता है। उसे अबतक जो कुछ शिक्षाए मिली है, उनकी वह तीव्र आलोचना करता है, और जिन धार्मिक राजनैतिक, कानून-सम्बन्धी तथा सामाजिक पक्षपातपूर्ण विचारो मे होकर वह अकुरित एव पल्लवित हुआ है, उनकी शून्यता को वह नग्न रूप में प्रकट कर देता है। वह नवीन मार्गों पर चलकर अनुसधान करता है, नवीन आविष्कारो से हमारे ज्ञान को वर्द्धित करता है और नूतन विज्ञान की सृष्टि

करता हूँ। किन्तु विचार के वद्धमूल शत्रु—सरकार, विधि-निर्माता और पुरोहित—फिर शीघ्र ही अपनी पराजय को भूलकर आगे आ जाते हैं। क्रमश वे अपनी विखरी हुई शक्तियो को एकत्र करते हैं और अपने धर्म-विश्वास तथा नियम-विधान को नूतन आवश्यकताओ के अनुरूप वनाते हैं। इसके वाद विचार और चरित्र की दासता से लाभ उठाकर, जिसको उन्होने स्वय वडी ही निपुणता के साथ जनता मे पैदा किया है तथा समाज की असगठित व्यवस्था, कुछ लोगो के आलस्य, कुछ के लोभ और वहुतो की सर्वोत्तम आशाओ से लाभ उठाकर, वे चुपचाप फिर अपने कार्य को—सवसे पहले शिक्षा द्वारा वच्चो पर अधिकार जमा कर—ग्रहण कर लेते हैं।

वच्चे की आत्मा दुर्वल होती है। उसे भय दिखाकर वाध्य करना सहज है। वे ऐसा ही करते हैं। वे वच्चे को भीरु वना डालते हैं और तव वे उसे नरक की यत्रणाओ के किस्से वतलाते हैं। वे उसके सामने पापियों के कष्ट और निष्ठुर ईश्वर की प्रतिहिसा का चित्र चिि त करते हैं, फिर दूसरे ही क्षण वे क्राति की भयकरताओ और क्रातिकारियो के कुछ अत्याचारो का वर्णन करके वच्चे को शाति और व्यवस्था का समर्थक वनाने की चेष्टा करते हैं। पुरोहित वालक को विधि-विधानो से अभ्यस्त वनाता है, जिससे कि वह 'ईश्वरीय नियम' का अच्छी तरह पालन कर सके। वकील 'ईश्वरीय कानून' के वारे मे वार-वार चर्चा करता है, जिससे मानवीय कानूनो का अच्छी तरह पालन किया जा सके।

आत्म-समर्पण के इस अभ्यास के कारण, जिससे हम लोग अच्छी तरह परिचित हैं, भावी पीढी के विचार मे भी वही टेढापन रह जाता है, जो दास-सुलभ होने के साथ-साथ शासनात्मक भी होता है, क्योंकि प्रभुता और दासता साथ-साथ चलती हैं।

तन्द्रालसता के इस सक्रमण काल मे नीति-ज्ञान पर कदाचित ही विवेचना होती है। धार्मिक अनुष्ठान और न्याय-विपयक पाखड उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। लोग किसी वात की समालोचना नहीं करते, वल्कि अभ्यास

और उदासीनता के कारण वस्तु-स्थिति को ज्यो-के-त्यो रूप मे स्वीकार कर लेते है। चिराचरित नीतिनिष्ठा के विरुद्ध कुछ बोलने का उनमे साहस नही होता। वे इस बात की पूरी चेष्टा करते है कि जो-कुछ वे अपने मुँह से कहते है, उसके अनुकूल उनका आचरण प्रतीत हो।

मनुष्य मे जो कुछ सत्, महान्, उदार या स्वतत्र था, उसपर क्रमश. काई लगने लगती है और उसपर उसी तरह जग लग जाता है, जिस तरह काम मे आनेवाली छुरी पर। मिथ्या उस समय धर्म बन जाता है और एक साधारण बात कर्त्तव्य बन जाती है। जो लोग सुख-चैन से जीवन व्यतीत करते है, उनका ध्येय होता है—चाहे जैसे हो, अपने को धनवान बनाना, आये हुए अवसरो से लाभ उठाना, अपनी बुद्धि, उत्साह और शक्ति का पूर्ण रूप से मनमाने उद्देश्य के लिए उपयोग करना। गरीब लोगो का ध्येय भी यही बन जाता है, क्योकि उनका आदर्श भी तो यही होता है कि मध्यम श्रेणी जैसा अपने को प्रदर्शित करे। इसके बाद शासक और न्यायकर्त्ता, धर्म-याजक और धनी तथा मध्यम श्रेणी का अध पतन इतना घृणास्पद हो उठता है कि पेण्डुलम दूसरी ओर झूलने लगता है।

धीरे-धीरे युवक सम्प्रदाय अपने को इन बन्धनो से मुक्त कर डालता है। वह अपने पूर्व-निश्चित विचारो को दूर फेक देता है और प्रत्येक विषय की समालोचना करने लगता है। चिन्तन-शक्ति जाग्रत होती है, पहले तो थोडे लोगो मे, इसके बाद अज्ञात रूप से जनता तक पहुँच जाती है। फिर आवेग उत्पन्न होता है और उसका परिणाम होता है क्राति।

प्रत्येक बार नीति-निष्ठा का प्रश्न उपस्थित होता है। 'मै इस पाखडपूर्ण नीति-निष्ठा के सिद्धातो का अनुसरण क्यो करूँ ?'—धार्मिक भय से मुक्त मस्तिष्क मे यह प्रश्न उपस्थित होता है। कोई नीति-निष्ठा बाध्यतामूलक क्यो होनी चाहिए ?

जीवन के प्रत्येक अवसर पर लोगो के सामने जो नैतिक भावना उपस्थित होती है, उसका कारण बतलाने की वे चेष्टा करते है, यद्यपि वे स्वय उसे नही समझते। और जबतक वे यह समझते रहेगे कि यह नैतिकता की भावना

केवल मनुष्यो मे ही पाई जाती है, और जबतक वे पशु-जगत या पाषाण-जगत का अध्ययन नही करते, तवतक इसे समझने के लिए वे इसकी व्याख्या कर भी नही सकेंगे, किन्तु उपयुक्त अवसर उपस्थित होने पर वे इसका उत्तर ढूढते हैं।

यदि हम यह कहने का साहस करे, तो कह सकते हैं कि समाज मे प्रचलित नीति-निष्ठा अथवा यो कहिये कि पाखड का, जिसने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है, आधार जितना ही अधिक क्षीण होगा, उतना ही अधिक समाज का नैतिक धरातल ऊँचा उठेगा। ठीक ऐसे समय मे ही, जबकि लोग प्रचलित नीति-निष्ठा की आलोचना करते है और उसे स्वीकार करते है, नैतिक भावना की सबसे अधिक उन्नति होती है। इसी समय इसका विकास होता है, उत्थान होता है और इसमे विशुद्धता आती है।

वर्षो पहले रूस के युवको को इसी प्रश्न ने अत्यधिक विक्षुब्ध कर दिया था। "मै नीति-भ्रष्ट वनूगा!"—एक निहिलिस्ट युवक अपने मित्र के पास आता और उससे कहता। इस प्रकार उसने अपने उन विचारो को कार्यरूप में परिणत कर दिखाया, जिनके कारण उसे चैन नही मिलता था। "मै नीतिभ्रष्ट वनूगा, और मुझे ऐसा क्यो नही वनना चाहिए? क्योकि वाइविल की ऐसी शिक्षा है? किन्तु आखिर वाइविल भी तो वेवलोनियन और हिब्रू जाति की परम्परागत कथाओ का—जो कथाए होमर के पद्य-जैसे या इस समय भी वास्क के पद्य और मगोलिया की कथाओ का जैसा सग्रह हो रहा है वैसा—सग्रह मात्र है! तो क्या मै भी अपने मन की स्थिति को पूर्व की अर्द्ध-सभ्य जातियो जैसी वना लू? क्या मुझे इसलिए सदाचारी वनना चाहिए कि दार्शनिक काण्ट ने वताया है कि मेरे अन्तरतम से एक रहस्यमय आदेश होता है और वह मुझे सदाचारी वनने के लिए कहता है? किन्तु इसी आदेश का मेरे कार्यो के ऊपर उस आदेश की अपेक्षा विशेष प्रभुत्व क्यो हो, जो आदेश समय-समय पर मुझे मद्य-पान के लिए प्रेरित करता है? 'ईश्वर' या 'दैव' जैसे शब्द सिर्फ इसलिए गढे गए हैं कि उनके द्वारा हम अपने अज्ञान को छिपा सकें।

"या शायद मुझे इसलिए सदाचारी बनना चाहिए कि दार्शनिक बैन्थम ने मुझे बताया है कि यदि मैं एक पथिक को, जो नदी मे गिर पडा है, खडा होकर डूबते हुए देखने की अपेक्षा स्वय डूबकर बचा लू, तो इसमे मुझे अधिक आनन्द प्राप्त होगा ? या शायद इसलिए कि मुझे ऐसी ही शिक्षा मिली है, क्योकि मेरी मा ने मुझे नीति-ज्ञान की शिक्षा दी थी ? तो क्या मैं गिरजाघर मे जाकर और घुटने टेककर उपासना करूँ, राजमहिषी का अभिवादन करूँ, न्यायकर्त्ता के सामने—जिसे मैं एक दुरात्मा के रूप मे जानता हूँ—माथा टेकू, सिर्फ इसलिए कि हमारी माताओ—भोलीभाली अबोध माताओ—ने हमे इस तरह की वहुत-सी झूठ-मूठ की बाते सिखलाई है ?

"मै भी, और लोगो के समान ही पूर्व-सस्कारो से विजडित हूँ। मैं इन सस्कारो से अपने को मुक्त करने की चेष्टा करूँगा। यद्यपि नीति-भ्रष्टता मेरे लिए विरक्तिजनक होगी, तथापि मैं अपनेको जवरदस्ती उसी प्रकार नीति-भ्रष्ट वनाऊँगा, जिस प्रकार लडकपन मे मैंने वलपूर्वक अपने को अन्धकार, गिरजाघर, भूत-प्रेत और मृतक के भय से मुक्त किया था, जिन सबसे भय करना मुझे सिखलाया गया था।

"धर्म द्वारा जिस साधन का दुरुपयोग हुआ है, उसे भग करना नीति-विरुद्ध होगा, मैं ऐसा करूगा और वह इसलिए कि सदाचार के नाम पर पाखड का जो वोझ हमारे ऊपर लाद दिया गया है, उससे अपनी रक्षा करूँ।"

रूस के युवको ने जव पुराने जमाने के कुसस्कारो का परित्याग किया था, और निहिलिस्ट या अनार्किस्ट (अराजकवादी) दर्शन का झडा फहराया था, उस समय वे इसी ढग से तर्क-वितर्क किया करते थे। किसी भी प्रभुता के सामने घुटने नही टेकना, चाहे वह कितनी ही सम्माननीय क्यो न हो, किसी भी सिद्धात को तवतक ग्रहण नही करना जवतक कि वह वुद्धि द्वारा प्रमाणित न हो।

यह कहने की आवश्यकता नही कि अपने पूर्वजो के उपदेश को रद्दी की टोकरी मे फेककर और नीति-ज्ञान की सारी पद्धतियो को जलाकर निहिलिस्ट युवको ने अपने बीच नैतिक आचारो का एक ऐसा केन्द्र वना लिया, जो उन सव

वातो से कही श्रेष्ठ था, जिनका आचरण उनके पूर्वजो ने 'धर्म वाक्य', 'अन्त - करण', 'अन्तरात्मा का आदेश' या 'परोपकारिता से लाभ' इन सब वातो के अधीनस्थ होकर किया था, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व कि 'मै सदाचारी क्यो बनू ?' हम यह देखे कि यह प्रश्न ठीक तौर से रखा गया है या नही । आइये, हम पहले मानवीय क्रिया के उद्देश्य का विश्लेपण करे ।

मनुष्य अच्छा या बुरा काम क्यो करता है, इसका कारण जब हमारे पूर्वज वतलाना चाहते थे, तो वे बहुत ही सीधे ढग से काम लिया करते थे । अवतक भी इस प्रकार की कैथोलिक सप्रदाय की कई मूर्तिया पाई जाती है, जिनसे इस विषय की व्याख्या पर प्रकाश पडता है । एक मनुष्य रास्ते से होकर जा रहा है । उसे इस वात की विल्कुल खबर नही है कि वह अपने वाये कधे पर एक शैतान को और दाये कधे पर एक देवदूत को वहन किये हुए है । शैतान उसे पापकर्म करने के लिए प्रेरित करता है । यदि देवदूत का आदेश ग्रहण करके वह धर्मनिष्ठ वना रहता है तो अन्य तीन देवदूत उसे पकडकर स्वर्ग ले जाते है । इस प्रकार सव शुभाशुभ कर्मो की व्याख्या, वडे-ही अच्छे ढग से हो जाती है ।

रूस की वुड्ढी धाइया, जो इस प्रकार की कहानियो की खान होती है, आपको वतायगी कि वच्चे के कुरते के गले का वटन खोले विना उन्हे विछौने पर नही सुलाना चाहिए । गर्दन के नीचे एक गरम स्थान खाली छोड देना चाहिए, जहा रक्षक देवदूत सुख से आश्रय ग्रहण कर सके । ऐसा न करने पर शैतान सोते हुए वच्चे को भी पीडा पहुचायगा ।

इस प्रकार की सरल भावनाए अव लुप्तप्राय हो रही है, किन्तु यद्यपि पुराने शव्द लुप्त हो रहे है, फिर भी उनका जो वास्तविक भाव है, वह पहले के समान ही वना हुआ है ।

सुशिक्षित व्यक्ति अव भूत-प्रेत या शैतान मे विश्वास नही करते; किन्तु उनकी भावनाएँ हमारी धाइयो की अपेक्षा अधिक युक्तिसगत नहीं कही जा सकती । दर्शन-शास्त्र के नाम पर वाहरी तडक-भडक के शव्दो मे वे शैतान और देवदूतो को छिपा देते है । आधुनिक समय मे वे 'शैतान' न कहकर इसे

'इन्द्रिय लालसा' या 'मनोविकार' कहते हैं। देवदूत के बदले 'अन्त करण' या 'आत्मा' शब्द का व्यवहार होता है, किन्तु मनुष्य की क्रियाओ को इस समय भी दो विरोधी तत्त्वो के बीच होनेवाले सग्राम का परिणाम बताया जाता है और मनुष्य ठीक उसी मात्रा मे धर्मनिष्ठ समझा जाता है, जिस मात्रा मे इन दो तत्त्वो मे से एक—आत्मा या अन्त करण—दूसरे तत्त्व—इन्द्रिय लालसा या मनोविकार—पर विजय प्राप्त करता है।

जब अग्रेज दार्शनिको ने और उनके बाद विश्वकोष के निर्माताओ ने इन आदिम भावनाओ के विरुद्ध यह दृढतापूर्वक कहना शुरू किया कि शैतान या देवदूत के साथ मानवीय कार्य का कोई सबध नही है, और मनुष्य के सब कार्य—शुभ या अशुभ, हितकर या अहितकर—सिर्फ एक ही अभिप्राय से उत्पन्न होते है, और वह अभिप्राय है सुखोपभोग की कामना, तो उस समय हमारे बाप-दादो को कितना आश्चर्य हुआ होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

सपूर्ण धार्मिक समाज ने और खासकर धर्मध्वजियो के विभिन्न दलो ने इसे 'दुर्नीति' कहकर चिल्लाना शुरू किया। चिन्तनशील विद्वानो पर अपमानो की बौछार होने लगी और उन्हे जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। इसके एक शताब्दी बाद जब बैन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल, चरनिस्मेस्की तथा अन्य बहुत-से दार्शनिको ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन करना शुरू किया, और जब इन मनीषियो ने यह दृढतापूर्वक कहना और सिद्ध करना शुरू किया कि अहवाद या भोग की वासना ही हमारी समस्त क्रियाओ का वास्तविक अभिप्राय है, तो उनके ऊपर अभिशाप की वर्षा द्विगुणित रूप मे होने लगी। मौनावलम्बन का षड्यत्र रचकर उनकी रचनाओ को वर्जित कर दिया गया, और रचयिताओ के प्रति स्थूल-बुद्धि व्यक्तियो जैसा व्यवहार किया गया। किन्तु उन्होने जिस सिद्धात का प्रतिपादन किया था, उससे बढकर अधिक सत्य और क्या हो सकता है?

एक आदमी ऐसा है, जो एक बालक के मुख का अन्तिम ग्रास छीनकर खा जाता है। उसके सबध मे प्रत्येक व्यक्ति यही कहेगा कि वह एक भयानक

स्वार्थपरायण मनुष्य है और एकमात्र स्वार्थपरता के भाव से ही वह उत्प्रेरित होता है।

अब एक ऐसे आदमी को लीजिये, जिसे प्रत्येक व्यक्ति धर्मनिष्ठ समझता है। वह स्वय भूखा और नगा रहकर भूखो को अन्न और नगो को वस्त्र प्रदान करता है। नीतिपरायण व्यक्ति अपने धर्म-सबधी अपलापो की पुनरावृत्ति करते हुए फौरन यह कह बैठेगे कि उक्त मनुष्य का अपने पडोसी के प्रति प्रेम आत्मोत्सर्ग की सीमा पर पहुँच गया है, और वह स्वार्थ-परायण व्यक्ति की अपेक्षा एक सपूर्ण भिन्न मनोद्वेग के आदेशानुसार आचरण करता है। किन्तु कुछ हो, विचार करने के बाद हमे शीघ्र ही इस बात का पता चल जायगा कि दोनो प्रकार के कार्यों मे मनुष्य-जाति के लिए परिणाम की दृष्टि से चाहे कुछ भी अन्तर क्यो न हो, किन्तु दोनो का उद्देश्य एक ही है। वह उद्देश्य है सुखोपभोग का सन्धान! जिस मनुष्य ने स्वय नगा रहकर दूसरे को अपना वस्त्र दे दिया, उसे यदि ऐसा करने मे आनन्द नही मिलता तो वह इस काम को नही करता। यदि उसे बालक के हाथ से रोटी छीनने मे आनन्द मिलता, तो वह भी ऐसा ही करता, किन्तु यह काम उसके लिए विरक्तिजनक था। उसे दान करने मे आनन्द मिलता है, इसलिए वह दान करता है। जिन शब्दो का अर्थ बहुत दिनो से प्रचलित हो गया है, उनका नये अर्थ मे उपयोग करने मे यदि भ्रम नही हो, तो यह कहा जा सकता है कि दोनो ही दशाओ मे उक्त मनुष्यो ने अपने अहकारजनित मनोद्वेग से प्रेरित होकर कार्य किया था। कुछ लोगो ने ठीक ऐसा ही कहा है, और इस विचार को प्रधानता देने तथा इस भावना को स्पष्ट रूप मे व्यक्त करने के लिए उसे इस रूप मे रखा है, जिनमे वह चमत्कारपूर्ण प्रतीत हो और साथ ही इस मिथ्या भावना का अन्त कर डाले कि इन दो क्रियाओ के अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। उनका अभिप्राय एक ही है, और वह है सुख का सन्धान अथवा दुःख का परिहार! ये दोनो बातें एक ही है।

दृष्टान्त के लिए सबसे अधम दुरात्मा को लीजिये। थेयर्स जैसा नराधम, जो पैंतीस हजार पेरिस-निवासियो की हत्या कर डालता है, अथवा एक हत्यारा

जो सपूर्ण परिवार की इसलिए हत्या करता है कि जिससे वह व्यभिचार-पक मे अपने को निमग्न कर सके। वे ऐसा इसलिए करते है कि उस क्षण मे यश या अर्थ की कामना उनकी अन्य सब कामनाओ को दबा देती है, यहा तक कि यह कामना, यह दूसरी पिपासा, उनकी दया और करुणा तक को कुछ समय के लिए विनष्ट कर देती है। अपनी प्रकृति की वासना को तृप्त करने के लिए वे स्वत प्रेरित भाव से कार्य करने लगते है। अच्छा, अब प्रबल मनोविकार की बात छोडकर एक ऐसे तुच्छ व्यक्ति को लीजिये, जो अपने मित्रो को धोखा देता है, जो प्रत्येक व्यक्ति के सामने हाथ फैलाता है, और अपने वाक-चातुर्य या धूर्तता से कुछ-न-कुछ ऐंठ लेता है। एक ऐसे मालिक को लीजिये, जो अपने नौकरो को इसलिए ठगता है, जिससे वह अपनी पत्नी या प्रेमिका के लिए जवाहरात खरीद सके। चाहे किसी भी तुच्छ दुरात्मा को ले लीजिये। वह जो कुछ करता है, अपने मनोविकार के आदेशानुसार। वह अपनी इन्द्रिय-लालसा की तृप्ति चाहता है, या ऐसी वस्तु से भागना चाहता है जिससे उसे कष्ट पहुँचे।

इस प्रकार के तुच्छ दुरात्माओ के साथ हम ऐसे व्यक्ति की तुलना करने मे लज्जा बोध करते है, जो अत्याचार-पीडितो को मुक्त करने के लिए अपने अस्तित्व तक का बलिदान कर देता है और रूस के एक निहिलिस्ट की भाति फासी के तख्ते पर चढ जाता है। इन दो प्रकार के जीवनो का परिणाम मानवता की दृष्टि से जितना ही अधिक विभिन्न होता है, उतना ही हम एक की ओर आकृष्ट होते हैं और दूसरे की ओर से विरक्त बने रहते हैं।

यदि आप एक ऐसी शहीद स्त्री से, जो फासी पर झूलने जा रही हो, उसके फासी के मच के पास पहुँचते समय, बाते करे, तो वह आपको बतायगी कि वह अपने जीवन या मृत्यु का विनियम उस तुच्छ दुरात्मा के जीवन से नही करना चाहती, जो अपने मजदूरो के वेतन से पैसे चुराकर अपनी जीविका निर्वाह करता है। उसे अपने जीवन मे, महान् शक्तिशाली अत्याचारियो के साथ सग्राम करने मे अत्यधिक आनन्द मिलता है। इस सग्राम के सिवा और सबकुछ, मध्यम श्रेणी के समस्त आनन्द और कष्ट उसे कितने

हेय, कितने क्लांतिजनक, कितने शोचनीय प्रतीत होते है ! वह आपके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहेगी—"तुम जीवन धारण नही करते, बल्कि अकर्मण्य वनकर घास-फूस की तरह उगते हो, मैंने प्रकृत जीवन धारण किया है।"

यहा हम मनुष्य के सुचिन्तित और सचेतन कार्यों की चर्चा कर रहे है। फिलहाल हम उन वातो की चर्चा नही करते, जिन्हे हम मनुष्य के अचेतन कार्य कहते है, जो कार्य यत्रवत् होते रहते है और जिनका हमारे जीवन मे एक वहुत बडा भाग होता है। मनुष्य जो कार्य सुचिन्तित और सचेतन रूप मे करता है, उसमे वह सदा ऐसी वातो की खोज करेगा, जिनसे उसे आनन्द मिले।

एक व्यक्ति जो मद्य सेवन करके प्रतिदिन अपनेको पशु की दशा मे अव.पतित कर रहा है, वह ऐसा इसलिए करता है कि उसे मद्य मे जो स्नायविक उत्तेजना प्राप्त होती है, वह उत्तेजना उसे अपनी मासपेशियो से प्राप्त नही हो सकती। दूसरा आदमी मादक पदार्थ का सेवन नही करता, आनन्ददायक मालूम होने पर भी वह शराव नही पीता, और वह ऐसा इसलिए करता है, जिससे वह अपने विचारो की नूतनता और शक्तियो की प्रचुरता को कायम रख सके, और वह अन्य आनन्दो का उपभोग कर सके, जिन्हे वह मादकता की अपेक्षा विशेष वाछनीय समझता है। किन्तु उस समय उसका आचरण क्या वैसा ही नही होता, जैसा उस सुस्वादु भोजन के प्रेमी का, जो भोज मे नाना प्रकार के व्यजनो पर दृष्टिपात करके किसी एक व्यजन का, जिसे वह वहुत पसंद करता है, परित्याग कर देता है, ताकि वह दूसरे व्यजन को, जिसे वह पहले की अपेक्षा विशेप पसद करता है, यथेष्ट ग्रहण कर सके ?

जव एक स्त्री अपना अन्तिम ग्रास किसी आगन्तुक को दे देती है, जव वह अपने शरीर पर के चिथडे उतारकर दूसरी स्त्री को, जिसे सर्दी लग रही हो, तन ढकने के लिए दे देती है और स्वय जहाज के डेक पर खडी-खडी सर्दी से ठिठुरती रहती है तो वह ऐसा इसलिए करती है कि उसे स्वय अपने भूखे रहने या सर्दी से ठिठुरने की अपेक्षा दूसरे भूखे मनुष्य को देखकर अथवा सर्दी से ठिठुरती हुई दूसरी स्त्री को देखकर विशेप कष्ट का अनुभव होगा।

वह एक ऐसी पीडा से बचना चाहती है, जिसकी गुरुता वे ही लोग समझ सकते है, जिन्होने इसे महसूस किया है।

गुयाऊ नामक लेखक ने अपनी पुस्तक मे एक ऐसे आस्ट्रेलिया-निवासी मनुष्य का दृष्टात दिया है, जो अपने मन मे इस धारणा का पोषण करते रहने के कारण क्षीण होता जा रहा था कि उसने अबतक अपने कुटुम्बियो की मृत्यु का बदला नही लिया है। वह अपनी भीरुता का खयाल करके दिन-दिन कृश और म्लान होता जा रहा था और जबतक उसने प्रतिहिंसा का कार्य पूरा नही कर लिया, तबतक उसकी जान-मे-जान न आई। वह इस प्रकार का प्रतिहिंसा-मूलक कार्य क्यो करता है—जो कार्य कभी-कभी वीरत्वपूर्ण भी कहा जा सकता है? इसीलिए न, कि जिस धारणा के कारण उसका मन अभिभूत हो रहा है, उससे वह मुक्त हो जाय और उस आन्तरिक शाति को प्राप्त करे, जिससे चरम सुख की प्राप्ति होती है?

जिस समय बन्दरो का एक दल अपने मे से एक को शिकारी की चोट से गिरता हुआ देखता है और उस शिकारी के तम्बू को घेर लेता है तथा बन्दूक का भय दिखाने पर भी मरे हुए बन्दर की लाश का दावा करता है, और आखिर उस दल का मुखिया खेमे के भीतर चला जाता है, पहले शिकारी को भय दिखाता है, फिर उससे अनुनय-विनय करता है और अन्त मे अपने विलाप द्वारा उसे लाश को दे देने के लिए राजी करता है, तत्पश्चात् बन्दरो का दल आर्तनाद करता हुआ अपने मृत साथी को जगल मे ले जाता है। उस समय ये बन्दर अपने जीवन की सुरक्षा की अपेक्षा करुणा की जो बलवती भावना है, उसका अनुगमन करते है। उनकी यह भावना अन्य सब भावनाओ को परास्त कर देती है, यहा तक कि उन्हे अपने जीवन तक मे कोई आकर्षण नही रह जाता, जबकि उन्हे इस बात का निश्चय नही रहता कि वे अपने मृत साथी को पुनरुज्जीवित कर सकेंगे या नही। उनकी यह भावना इतनी निदारुण हो उठती है कि उन बेचारे पशुओ को उससे मुक्त होने के लिए सबकुछ करना पडता है।

जिस समय चीटिया हजारो की सख्या मे जलती हुई बाँबी, जिसमे

किसी नर-पशु ने आग लगा दी है, की ज्वालाओ की ओर बडे वेग से अग्रसर होती है और अपने अडे-बच्चो को बचाने के लिए सैकडो की सख्या मे विनष्ट हो जाती है, उस समय अपनी सतान की रक्षा की जो आकाक्षा है, उसका ही वे अनुपालन करती है । अपने जिन बच्चो को उन्होने बडे यत्न से—इतना अधिक यत्न, जितना बहुत-सी स्त्रिया भी अपनी सतान के लिए नही करती होगी—पाला है, उन्हे बचाने के लिए वे अपना सबकुछ खतरे मे डाल देने को तैयार हो जाती है ।

सुख का सन्धान और दु ख का परिहार, यही जीव-जगत के कार्यो की मल-रेखा है (या नियम, जैसाकि कुछ लोग कहेगे) ।

इस प्रीतिकर वस्तु के सन्धान के बिना जीवन तक असभव हो जायगा । शरीर के अवयव छिन्न-भिन्न हो जायगे और जीवन का अन्त हो जायगा ।

इस प्रकार चाहे मनुष्य के कार्य या उसके कार्यो की मूलरेखा कुछ भी क्यो न हो, मनुष्य जो कुछ करता है, अपनी प्रकृति की कामना के आदेशानुसार करता है । अत्यत विरागजनक कार्य भी उसी प्रकार कर्त्ता की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार अनुष्ठित होते है, जिस प्रकार साधारण या अत्यत आकर्षक कार्य । मनुष्य जैसा चाहे, वैसा उसे करने दो, वह वही काम करेगा जिसमे उसे आनन्द मिले और ऐसे कार्य से, जिसमे उसे पीडा हो, विरत रहेगा ।

यह एक सुप्रमाणित तथ्य है । जिसे हम 'स्वार्थवाद का सिद्धात' कहते है, उसीका यह सार-तत्त्व है । अच्छा, तो क्या इस परिणाम पर पहुँचने से हमारी अवस्था कुछ अच्छी हुई है ? हा, जरूर हुई है । हमने सत्य पर विजय प्राप्त की है और एक ऐसे पूर्व-सस्कार को नष्ट कर डाला है, जो सब सस्कारो का मूल कारण है । जितने भौतिक दर्शन है, उनका मानवीय सबध इस परिणाम के अन्दर आ जाता है । तो क्या इससे यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य के जितने कार्य होते है वे सब निरपेक्ष होते है, जैसाकि कुछ लोगो ने निष्कर्ष निकाला है ? अब हमे इसी बात पर विचार करना है ।

हम इस बात पर विचार कर चुके है कि मनुष्य के कार्यो का (उनके सुचिन्तित और सचेतन कार्यो का—अचेतन अभ्यासो के सबध मे हम आगे

चलकर विचार करेंगे) एक ही उद्‌गम-स्थान होता है। पाप और पुण्य, भक्ति और क्षुद्र दुष्टता, आकर्षक और विरागजनक कार्य, सबका एक ही उद्‌गम-स्थान होता है। इन सबका लक्ष्य होता है सुख का सन्धान, दु ख के परिहार की कामना। इस विचार के समर्थन मे कितने ही तथ्य प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते है और उनपर सक्षिप्त रूप मे पहले विचार हो चुका है।

जो लोग अब भी धार्मिक भावनाओ से अनुप्राणित हो रहे है, उनका इस व्याख्या पर चीत्कार करना आसानी से समझा जा सकता है। इसमे अलौकिक के लिए कोई स्थान ही नही है। यह अमर आत्मा के सिद्धात का खडन करता है। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति की आवश्यकताओ के अनुसार आचरण करता है, यदि वह एक 'सचेतन स्वय-चालित यत्र' है, तो फिर अमर आत्मा क्या वस्तु है ? वह अमरता क्या चीज ह, जिसकी अन्तिम शरण वे लोग लेते है, जिन्होने अपनी जिदगी मे बहुत ज्यादा दु ख भोगे है और सुख बहुत कम, और जो परलोक मे अपने अभावो के मोचन का स्वप्न देख रहे है ?

यह समझना आसान है कि जो लोग रूढियो और पूर्व-सस्कारो मे पले है, और जिन्हे विज्ञान पर, जिसने उन्हे बहुधा धोखा दिया है, बहुत कम विश्वास है, जो लोग विचार की अपेक्षा भावना द्वारा परिचालित होते है, वे शुभाशुभ कर्म की इस व्याख्या को क्यो अग्राह्य कर देते है ? इसका कारण यही है कि यह व्याख्या उनकी अन्तिम आशा से उन्हे वचित कर देती है।

पाप और पुण्य मे भेद बताने के लिए यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान धर्म-शास्त्रकारो ने ईश्वरीय अनुप्रेरणा की शरण ली है। उन्होने देखा कि मनुष्य, चाहे वह सभ्य हो या बर्बर, पडित हो या मूर्ख, सरल हो या कुटिल, इस बात को बराबर जानता है कि वह अच्छा कर रहा है या बुरा—खासकर जब वह कोई बुरा कर्म करता है तब तो वह उसे अवश्य ही जानता है। इस साधारण बात की कोई व्याख्या उन्हे मालूम नही पडी, इसलिए उन्होने इसका कारण 'ईश्वरीय अनुप्रेरणा' बताया। रहस्यवादी दार्शनिको ने इसे अन्त करण या एक रहस्यपूर्ण 'आदेश' का सकेत बताया है, परन्तु इसमें नाम-परिवर्तन के सिवा पहली व्याख्या से और कोई भेद नही है। इन दोनो

मे किसीकी भी समझ मे यह सरल और उल्लेखनीय बात नही आई कि सामूहिक रूप से रहनेवाले पशु भी मनुष्य के समान ही अच्छे और बुरे की पहचान कर सकते हैं। इतना ही नही, बल्कि अच्छे और बुरे के सबध मे उनकी भावना ठीक मनुष्य-जैसी ही होती है। मछली, कीट, पक्षी और स्तन्यपायी जीवो की प्रत्येक श्रेणी मे जो सर्वोत्तम विकसित प्राणी होते हैं, वे ठीक मनुष्य के अनुरूप होते हैं।

चीटियो के सबंध मे अत्यत सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले वैज्ञानिक फ्लोरेल ने अपने चिरकालिक अनुभव के आधार पर दिखाया है कि एक चीटी, जिसका पेट शहद से भरा हुआ है, जब खाली पेटवाली दूसरी चीटियो से मिलती है, तो वे चीटिया उससे भोजन मागती हैं। इन छोटे-छोटे कीटो मे, जिनका पेट भरा हुआ होता है, यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वे अपने पेट का कुछ भोजन उगल दे, जिससे उनके भूखे भाइयो की तृप्ति हो। इन चीटियो से पूछिये कि उसी बाँबी की दूसरी चीटियो को, जबकि एक चीटी को अपना हिस्सा मिल चुका है, भोजन नही देना क्या उचित होता? वे अपनी क्रियाओ से, जिनका अभिप्राय समझने मे कोई भूल नही हो सकती, यह स्पष्ट बता देगी कि ऐसा करना बिल्कुल गलत होगा। इस प्रकार के स्वार्थ पर चीटी के साथ अन्य जातियो के शत्रुओ की अपेक्षा कठोरतर बर्ताव किया जायगा। यदि दो भिन्न-भिन्न जातियो के बीच सग्राम होते समय इस प्रकार की कोई घटना हो तो चीटिया लडना बन्द करके अपने स्वार्थी साथी पर टूट पडेगी। यह बात प्रयोग से सिद्ध हो चुकी है, इसमे सन्देह के लिए कोई स्थान ही नही है।

अपने बागीचे मे रहनेवाली गौरैया से पूछिये कि अनाज के दाने छीटे जाने पर अपने समाज के और सब गौरैयो को नोटिस देना उसके लिए उचित है या नही, ताकि वे सब भी वहा पहुँचकर भोजन मे शामिल हो सके? उनसे पूछिये कि अपने पडोस की गौरैयो के घोसले से एक पुआल चुराकर एक दूसरे गौरैया ने, जिसे वह चोर पक्षी आलस्य के कारण खुद जाकर संग्रह नही कर सकता था, क्या उचित किया है? वे सब गौरैया उस डाकू पक्षी

पर आक्रमण कर उसे चोच से मार-मारकर यह उत्तर देगी कि उसने बहुत बुरा काम किया है।

पहाडी चूहो से पूछिये कि क्या उनकी जाति के एक पहाडी चूहे के लिए यह उचित है कि वह अपने तहखाने के भडार मे उसी स्थान के रहनेवाले अपने जाति-भाइयो को नही घुसने दे? वे उस कजूस चूहे के साथ सब प्रकार से लड-झगडकर यह बता देगे कि ऐसा करना बहुत ही अनुचित है।

एक जगली आदमी से पूछिये कि उसके दल के किसी व्यक्ति के तम्बू मे—जिस समय वह उपस्थित न हो—भोजन करना क्या उचित है? तो वह उत्तर देगा कि यदि वह आदमी अपना भोजन स्वय ही प्राप्त कर सकता है तो उसके लिए ऐसा करना बहुत ही अनुचित है। परन्तु यदि वह थका हुआ हो या उसके लिए भोजन का अभाव हो तो उसे जहा भोजन मिले, वहा ग्रहण कर लेना चाहिए, किन्तु ऐसी दशा मे उसके लिए यह अच्छा होगा कि वह अपनी टोपी या छुरी या रस्सी का एक टुकडा वहा छोड दे, जिससे बाहर गया हुआ शिकारी जब लौटकर आये, तो उसे इस बात का पता चल जाय कि उसका कोई बन्धु वहा आया था—कोई चोर या डाकू नही। इससे वह इस परेशानी से बच जायगा कि उसकी अनुपस्थिति मे उसके खेमे के पास शायद कोई डाकू या लुटेरा तो नही आया।

इस प्रकार की हजारो बाते कही जा सकती है, बल्कि पूरी किताबे लिखी जा सकती है, जिनसे यह मालूम होगा कि मनुष्यो तथा पशुओ मे अच्छे और बुरे की भावनाए किस प्रकार एक समान होती है।

उस चीटी, पक्षी, चूहे अथवा जगली आदमी ने काण्ट के दर्शन या धर्माचार्यो के धर्मोपदेश नही पढे। यदि आप एक क्षण के लिए इस बात पर विचार करे कि इस भावना के अन्दर कौन-सा रहस्य छिपा हुआ है तो आपको प्रत्यक्ष मालूम हो जायगा कि चीटियो, चूहो, ईसाइयो या नास्तिक सदाचारियो मे जो कुछ अच्छा समझा जाता है, वह यह है कि जिससे उनकी जाति के सरक्षण मे लाभ पहुँचे, और जिससे उनकी जाति के सरक्षण मे हानि पहुँचे, वह बुरा समझा जाता है। केवल व्यक्ति के सरक्षण के लिए नही—

जैसाकि बैन्थम और मिल ने कहा है—बल्कि सपूर्ण जाति के सरक्षण के लिए जो अच्छा है, दरअसल वही अच्छा है।

इस प्रकार भले और बुरे की भावना के साथ धर्म या रहस्यपूर्ण अन्त-करण का कोई सबध नही है, प्राणियो मे स्वत इसका बीज निहित रहता है। धर्म-सस्थापक, दार्शनिक और सदाचारपथी जब ईश्वरीय या आध्यात्मिक सजा की बात बताते है तो वे उसी बात को अन्य रूप मे कहते हैं, जिसका आचरण प्रत्येक चीटी और गौरैया अपने क्षुद्र समाज मे करती है।

क्या यह समाज के लिए लाभदायक है ? यदि हा, तब तो यह अच्छा है। क्या यह हानिकारक है ? यदि हा, तो यह खराब है। निम्नतर प्राणियो मे यह भावना बहुत ही सकुचित हो सकती है, उनकी अपेक्षा उन्नत प्राणियो मे यह अधिक विकसित हो सकती है; पर उसका मूलतत्त्व बराबर एक समान ही बना रहता है।

चीटियो मे उनकी बाँबी से बाहर इस भावना का विस्तार नही होता। सामाजिक रीति-नीति तथा सदाचरण के कुल नियम उस बाँबी की चीटियो तक ही परिमित रहते है, किसी दूसरे के साथ नही। एक बाँबी की चीटियां किसी दूसरी चीटी को, सिवा अपवाद की दशाओ मे (जैसे, दोनो पर एक समान ही विपत्ति पडी हो), अपनी जाति की नही समझेगी। इसी प्रकार एक स्थान मे रहनेवाली गौरैया यद्यपि परस्पर एक-दूसरे की सहायता विशेष रूप से करेगी तथापि किसी दूसरे स्थान की गौरैया के साथ, जो उनके स्थान मे आने का साहस करे, जान पर खेल कर लडेगी। एक जगली आदमी किसी दूसरे दल के जगली आदमी को एक ऐसा मनुष्य समझेगा, जिसके प्रति उसके दल की रीति-नीति लागू नही हो सकती। उसके हाथ कोई चीज बेचना भी जायज है; चूकि बेचने का अर्थ ही है खरीदार को न्यूनाधिक रूप मे ठगना, और बिक्री में कोई-न-कोई जरूर ठगा जाता है—बेचनेवाला या खरीदार। किसी-किसी जगली जाति का आदमी अपने दलवालो के हाथ कोई चीज बेचना अपराध समझता है, उन्हे वह बिना किसी गिनती के ही दे देता है। सभ्य मनुष्य—जबकि वह यह समझता है कि अपने तथा मनुष्य-जाति के साधारण-

से-साधारण व्यक्ति के बीच घनिष्ट सबध है, और यह सबध पहली वार के देखने से प्रत्यक्ष नही होता—सपूर्ण मानव-जाति, यहातक कि पशुओ के प्रति भी, एकता के सिद्धातो का विस्तार करेगा। माना कि सभ्य मनुष्य की यह भावना अत्यत विस्तृत होती है; किन्तु उसका मूल आधार एक समाज से वना रहता है।

दूसरी ओर अच्छे या वुरे की भावना बुद्धि या अर्जित ज्ञान की मात्रा के अनुसार वदलती रहती है। इसमे कोई वात ऐसी नही होती जो बदली न जा सके।

जगली आदमी इस बात को वहुत ठीक (अर्थात् अपनी जाति के लिए लाभदायक) समझ सकता है कि वह अपने वृद्ध माता-पिता को, जबकि वे समाज के लिए भार-स्वरूप हो, चट कर जाय। वह समाज के लिए यह भी लाभदायक समझ सकता है कि वह अपने नवजात बच्चो की हत्या कर डाले और प्रत्येक परिवार मे सिर्फ दो या तीन वच्चो को रहने दे, जिससे मा तीन वर्ष तक बच्चे को दूध पिला सके और उन्हे अधिक-से-अधिक लाड-प्यार कर सके।

आधुनिक समय मे विचारो मे परिवर्तन हो गया है। जीवन-धारण के जो साधन प्रस्तर-युग मे थे, वे अव नही रहे। इस समय का सभ्य मनुष्य उस जगली परिवार की स्थिति मे नही है, जिसे दो वुराइयो मे से एक को चुन लेना पडता था—या तो वह अपने वृद्ध माता-पिता को चट कर जाय, या फिर सारे परिवार को काफी पुष्टिकर भोजन नही दे सके और शीघ्र ही अपने वृद्ध माता-पिता और वच्चो को खिलाने मे असमर्थ हो जाय। पहले हमे कुछ समय के लिए अपनेको उस युग मे ले जाना चाहिए, जिसे हम कदाचित ही अपने मन मे ला सकते है। तव हम इस बात को समझ सकते है कि उस समय जैसी अवस्थाए थी, उनमे अर्द्ध-सभ्य मनुष्य का इस प्रकार तर्क करना ठीक हो सकता था। विचार-प्रणाली मे परिवर्तन हो सकता है। जाति के लिए क्या लाभदायक है और क्या हानिकारक—इस सवध मे हमारा जो अनुमान है, उसमे परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसका मूल आधार एक ही रहता है।

यदि हम जीव-जगत के सपूर्ण दर्शन को एक ही वाक्य में कहना चाहे, तो हम देखेंगे कि चींटी, पक्षी, चूहा और मनुष्य—सब एक बात पर सहमत हैं। सपूर्ण जीव-जगत को ध्यानपूर्वक देखने से जिस नीति-ज्ञान का बोध होता है, उसे हम थोडे शब्दो मे इस प्रकार कह सकते हैं—"दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा उनकी जैसी अवस्था में होने पर तुम स्वय अपने साथ किया जाना पसद करोगे।"

और इस नीति-विज्ञान मे यह भी कहा गया है—"इस बात पर ध्यान रखो कि यह सिर्फ एक सलाह है, किन्तु इसके साथ ही यह समाज के प्राणियो के दीर्घ अनुभव का परिणाम है। सामाजिक प्राणियो मे, जिसमे मनुष्य भी शामिल है, इस सिद्धात पर कार्य करना एक अभ्यास जैसा हो गया है। बिना इसके कोई भी समाज कायम नही रह सकता। बिना इसके कोई भी जाति प्राकृतिक बाधाओ पर, जिनके विरुद्ध उसे सग्राम करना पडता है, विजय प्राप्त नही कर सकती।"

क्या सचमुच यही साधारण सिद्धात सामाजिक जीव-जन्तुओ और मानव-सस्थाओ के निरीक्षण से उत्पन्न होता है? और यह सिद्धात किस प्रकार अभ्यास के रूप में परिणत होता है और निरन्तर विकसित होता रहता है? हमे अब इस बात पर विचार करना है। अच्छे और बुरे की भावना मानव के अन्दर ही मौजूद रहती है। मनुष्य—चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यो न हो, या उसकी भावनाए पक्षपात और व्यक्तिगत स्वार्थ से कितनी ही म्लान क्यो न हो गई हो—उसी बात को अच्छा समझता है जो समाज के लिए लाभदायक है। समाज के लिए जो हानिकारक हो, उसे वह बुरा समझता है।

किन्तु यह धारणा कहा से उत्पन्न होती है, जो बहुधा इतनी अस्पष्ट हुआ करती है कि अनुभूति से उसे पृथक समझना कठिन हो जाता है? इस प्रकार के लाखों मनुष्य हैं, जिन्होने मानव-जाति के सबध मे कभी कुछ सोचा ही नही। उनका ज्ञान मुख्यत अपनी जाति या परिवार तक ही सीमित रहता है। राष्ट्र को वे कदाचित ही जानते है, मानव-जाति

को तो और भी कम जानते है। फिर यह किस प्रकार सभव हो सकता है कि वे मानव-जाति के लिए जो शुभ हो, उसे लाभदायक समझे, या अपने सकीर्ण आत्म-परायण स्वार्थो के होते हुए भी अपने वश के साथ भी एकता की अनुभूति प्राप्त करे ?

सभी युगो के मनीषी विद्वानो ने इस तथ्य पर विशेप रूप से विचार किया है, और इस समय भी विचार कर रहे है। हम भी इस विषय पर अपना विचार प्रकट करते है। किन्तु इस प्रसग मे हम यह भी कह देना चाहते है कि यद्यपि इस तथ्य की व्याख्याए भिन्न-भिन्न हो सकती है, पर स्वय तथ्य के सबध मे कोई विवाद नही रह जाता। और यदि हमारी व्याख्या सच्ची न हो, अथवा वह अपूर्ण हो, तो भी यह तथ्य मानव-जाति के प्रति अपने परिणामो के साथ ज्यो-का-त्यो वना रहेगा। सूर्य के चारो ओर ग्रह-नक्षत्र क्यो घूमते है ? इसकी पूर्ण रूप से व्याख्या करने मे हम असमर्थ हो सकते है, किन्तु फिर भी नक्षत्रो के घूमने में कोई अन्तर नही पडता और उनमें से एक पर, यानी पृथ्वी पर, हम विद्यमान है।

धार्मिक व्याख्या के सम्बन्ध मे हम जिक्र कर चुके है। धर्मशास्त्रकारो का कहना है कि भगवान द्वारा अनुप्राणित होकर ही मनुष्य भले-बुरे की तथा पाप-पुण्य की पहचान करता है। उसका काम यह नही है कि वह इस वात का अनुसधान करे कि क्या लाभदायक है और क्या हानिकारक। उसका काम है केवल अपने स्रष्टा के आदेश का पालन करना। इस व्याख्या पर, जो असभ्य युग के भय और अज्ञान का परिणाम थी, हम कुछ विशेष कहना नही चाहते। इसकी उपेक्षा करके आगे बढते है।

कुछ लोगो ने इस तथ्य की व्याख्या कानून द्वारा करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि कानून ने ही मनुष्य मे न्याय और अन्याय तथा सद् और असद् का ज्ञान विकसित किया है। पाठक इस व्याख्या के संबध मे स्वयं विचार कर सकते है। वे इस वात को जानते है कि कानून ने केवल मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियो का उपयोग-मात्र किया है। कानून ने नैतिक उपदेशो के बीच मे ऐसी वाते घुसेड दी है, जो शोषण करनेवाले अल्प जन-समुदाय के

लिए लाभजनक हो; पर जिनके अनुसार आचरण करने मे साधारण मनुष्य की प्रकृति इनकार करती है। कानून ने न्याय की भावना को विकसित करने के वदले उसे और भी विकृत कर दिया है। अच्छा, अव हम आगे बढे।

उपयोगितावादियो की व्याख्या पर भी रुकने की जरूरत नही। वे इस वात को मान लेते है कि मनुष्य स्वार्थवश नैतिक दृष्टि से कार्य करता है; पर वे यह भूल जाते है कि मनुष्य के अन्दर अपनी सपूर्ण जाति के प्रति एकता की भावना मौजूद रहती है, चाहे उसका मूल कारण कुछ भी क्यो न हो। उपयोगितावादियो की व्याख्या मे कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु यह संपूर्ण सत्य नही है।

अठारहवी शताव्दी के विचारशील विद्वानो के सामने हम इस वात के लिए ऋणी है कि उन्होने नैतिक चित्तवृत्ति के आदि कारण का कम-से-कम आशिक रूप में तो अनुमान किया था।

ऐडम स्मिथ ने 'नैतिक चित्तवृत्तियो का सिद्धांत' (दी थ्योरी आव मोरल सेन्टिमेण्ट्स) नामक पुस्तक मे नैतिक चित्तवृत्ति के सच्चे मूल कारण पर प्रकाश डाला है। वह रहस्यपूर्ण धार्मिक अनुभूतियो मे इसका सन्धान नही करता, वह इसे सिर्फ समवेदना की अनुभूति में पाता है।

आप एक मनुष्य को किसी वच्चे को पीटते हुए देखते है। आप यह जानते है कि पीटे जानेवाले वच्चे को कष्ट पहुचता है। आपकी कल्पना-शक्ति आपके अन्दर वही पीडा उत्पन्न कर देती है, जो पीडा उस वच्चे को दी गई है, या उस वच्चे के आँसू तथा उसका पीडित चेहरा आपको कष्ट की अनुभूति करा देते है। और यदि आप भीरु नही है तो आप उस नर-पशु पर—जो वच्चे को पीट रहा है—टूट पडते है और उस वच्चे का उद्धार करते है।

इस उदाहरण से ही प्राय समस्त नैतिक चित्तवृत्तियो की व्याख्या हो जाती है। आपकी कल्पना-शक्ति जितनी ही प्रखर होगी, उतनी ही कुशलता के साथ आप अपने मन मे इस वात का चित्र चित्रित कर सकते है कि पीडित होने पर किसी प्राणी का अनुभव कैसा होता है और इसके अनु-

रूप ही आपका नैतिक ज्ञान गहरा और कोमल होगा। जितना ही अधिक आप अपनेको दूसरे मनुष्य की स्थिति मे रखेंगे, उतना ही अधिक आप उसकी पीडा का, उसके अपमान का, उसके प्रति किये गए अन्याय का, अनुभव करेंगे, और उसी मात्रा में आपके अन्दर कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होगी, जिससे आप पीडा, अपमान या अन्याय का निवारण कर सके। अवस्थाओ द्वारा, अपने आसपास के लोगो की वजह से, या अपने विचारो की प्रगाढता के कारण आप अपने विचार और कल्पना-शक्ति से प्रेरित होकर जितना ही अधिक कार्य करेंगे, उतना ही अधिक नैतिक उच्छ्वास आपमे उत्पन्न होगा और उतना ही अधिक आप उसके अभ्यस्त हो जायगे।

ऐडम स्मिथ ने अनेक दृष्टान्त देकर अपनी पुस्तक मे इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। अपनी युवावस्था मे उसने इस पुस्तक की रचना की थी, किन्तु उसकी यह कृति उसकी वृद्धावस्था की रचना 'राजनैतिक अर्थ-शास्त्र' की अपेक्षा कही अच्छी है। धार्मिक पक्षपात से मुक्त होकर उसने मानव-प्रकृति के भौतिक तथ्यो मे नीति-ज्ञान की व्याख्या का अनुसन्धान किया था, और यही कारण है कि सरकारी और गैर-सरकारी लोगो ने धार्मिक पक्षपात के कारण एक शताब्दी तक इस पुस्तक को वर्जित करके रखा।

ऐडम स्मिथ की एकमात्र भूल यही थी कि उसने इस बात को नही समझा था कि सहानुभूति की यह भावना मनुष्यो के समान जानवरो मे भी पाई जाती है।

समाज मे रहनेवाले सभी जानवरो मे एकता की भावना विशेष रूप मे दीख पडती है। गरुड पक्षी गौरैयो को निगल जाता है और भेडिया पहाडी चूहे को चट कर जाता है। किन्तु गरुड और भेडिये शिकार खेलने मे अपनी-अपनी जाति की सहायता करते है। गौरैया और पहाडी चूहे शिकार करनेवाले पशु-पक्षियो के विरुद्ध इस प्रकार आपस मे मेल कर लेते है कि उनमे जो बोदा होता है, वही शिकारी के चगुल में फँसता है। पशु-समाज मे जीवन-सग्राम की होड—जिसका गुणगान शासक दल प्रत्येक अवसर

पर करता रहता है, जिससे हम लोगो की उन्नति रुक जाय—की अपेक्षा यह एकता विशेष महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियम है ।

जब हम पशु-जगत का अध्ययन करते है और अपने मन मे इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करते है कि प्रत्येक प्राणी प्रतिकूल अवस्थाओ और अपने शत्रुओ के विरुद्ध जीवन-सग्राम जारी रखता है, तब हमें इस बात का अनुभव होता है कि पशु-समाज मे एकता और समानता के सिद्धात जितने ही अधिक विकसित होते हैं और उनसे वह जितना अधिक अभ्यस्त होता है, उतना ही उसे इस बात का मौका मिलता है कि वह कठिनाइयो और शत्रुओ के विरुद्ध सग्राम करके विजयी हो और जीवित रहे। समाज का प्रत्येक अग समाज के दूसरे अग के साथ अपनी एकता को जितने ही सम्यक् रूप मे अनुभव करता है, उतने ही पूर्ण रूप मे उन सब मे दो गुणो का विकास होता है । वे दो गुण है—साहस और स्वतन्त्र वैयक्तिक नेतृत्व। और यही सब प्रकार की प्रगतियो के मुख्य कारण है । इसके विपरीत, किसी पशु-समाज या क्षुद्र पशु-दल मे एकता की यह अनुभूति जितनी कम होगी, उतना ही अधिक उसमे प्रगति के दो कारणो का—साहस और वैयक्तिक नेतृत्व का—ह्रास होता जायगा । इस एकता के भाव का ह्रास या तो चीजो के बिल्कुल ही अभाव से अथवा उनके बहुत ज्यादा होने से उत्पन्न होता है । अन्त मे ये दो गुण सर्वथा लुप्त हो जाते है, और समाज क्षीण होकर अपने शत्रुओ के सामने परास्त हो जाता है । बिना पारस्परिक विश्वास के कोई सग्राम सम्भव नही है । साहस, वैयक्तिक नेतृत्व अथवा एकता के बिना विजय प्राप्त नही हो सकती—पराजय निश्चित है ।

बहुसख्यक दृष्टान्तो द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि किस प्रकार पशु और मानव-जगत मे पारस्परिक सहायता का नियम प्रगति का नियम है, और किस प्रकार सहायता और उसके साथ-साथ साहस और वैयक्तिक नेतृत्व से उस श्रेणी की जीत होती है, जो इसका अभ्यास करने मे विशेष सामर्थ्य रखती है ।

अब हम एकता की उस अनुभूति की कल्पना करे, जो युग-युगान्तर

से—जबसे इस भूमडल पर पशु-जीवन का प्रारम्भ हुआ—काम कर रही है। हम इस बात की कल्पना करे कि किस प्रकार यह अनुभूति क्रमश अभ्यास के रूप मे परिणत हो गई और वशानुक्रम द्वारा सूक्ष्मतर जीवो से उनके वशजो मे—कीट, पक्षी, सरीसृप, पशु और मनुष्य मे—सचारित हो गई, और तब हम नैतिक भावना के आदि कारण को हृदयगम कर सकेगे, जो पशुओ के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भोजन या उसे पचाने की इन्द्रिय-विशेष।

नैतिक अनुभूति का यही मूल कारण है। इस महान् प्रश्न पर यद्यपि हमने सक्षेप मे विचार किया है, किन्तु जो कुछ कहा गया है, वह यह दिखलाने के लिए काफी है कि इसमे कोई रहस्य या भावुकता की बात नही है। व्यक्ति का जाति के साथ एकता का जो यह सम्बन्ध है, वह यदि न होता, तो पशु-राज्य का न तो विकास हुआ होता, और न वह अपनी वर्त्तमान पूर्णता पर पहुचता। पृथ्वी पर रहनेवाले सबसे प्रगतिशील प्राणी भी इस समय जल के ऊपर तैरनेवाले कीटाणुओ की तरह सूक्ष्मवीक्षण यत्र से भी कठिनता से देखे जाते। किन्तु क्या उनका अस्तित्व भी सम्भव था ? क्योकि क्षुद्र कोपो की आदिम समष्टि क्या इस सग्राम मे एकता का उदाहरण नही है ?

इस प्रकार पशु-राज्य का निष्पक्ष दृष्टि से निरीक्षण करने पर हम इस परिणाम पर पहुचते ह कि जहा समाज का अस्तित्व है, वहा यह सिद्धान्त अवश्य पाया जायगा—"दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा उसी अवस्था मे तुम अपने साथ किया जाना पसद करते हो।"

पशु-जगत के विकास का जब हम ध्यानपूर्वक अध्ययन करते है तो हमे इस बात का पता चलता है कि उपर्युक्त सिद्धान्त ने, जिसका साराश एक शब्द 'एकता' मे दिया गया है, पशु-राज्य के विकास मे जितना काम किया है, उतना उन सब उपयोगिताओ ने नही किया जो व्यक्तिगत सुविधाए प्राप्त करने के लिए व्यक्तियो के बीच होनेवाले सग्राम के फल-स्वरूप उत्पन्न हुई है।

यह प्रत्यक्ष है कि मानव-समाज मे यह एकता और भी विशेष मात्रा मे पाई जाती है। बन्दरो के समाज मे भी हमे इस व्यावहारिक एकता का उल्लेखनीय दृष्टान्त दीख पडता है। मनुष्य ने तो इस दिशा मे एक कदम और आगे बढाया है। इस एकता के कारण ही मनुष्य, प्राकृतिक वाधाओ के होते हुए भी, अपनी क्षुद्र जाति को सुरक्षित रखने मे तथा अपनी वुद्धि को विकसित करने मे समर्थ हुआ है। जगली मनुष्यो के उन समाजों का, जो इस समय भी प्रस्तर-युग से आगे नही बढे है, ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से हमे इस वात का पता चलता है कि किस प्रकार एक ही समाज के मनुष्य परस्पर एकता का अभ्यास करते है।

यही कारण है कि व्यावहारिक एकता कभी रुकती नही, मानव-इतिहास के सबसे खराव समय मे भी वह कायम रहती है, यहातक कि जव प्रभुत्व, दासता और शोषण की क्षण-स्थायी अवस्थाओ के उत्पन्न हो जाने से एकता का सिद्धान्त अस्वीकृत हो जाता है, उस समय भी वहुत-से लोगो के विचारो मे वह कायम रहती है और दूषित सस्थाओ के विरुद्ध उसकी प्रवल प्रतिक्रिया क्रान्ति के रूप मे होती है। यदि ऐसा न हो तो समाज का अन्त ही हो जाय।

वहुसख्यक मनुष्य और पशुओ मे यह अनुभूति वर्तमान रहती है और एक अभ्यास के रूप मे इसे कायम रहना ही चाहिए। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मन मे वरावर उपस्थित रहता है, चाहे क्रिया मे उसकी निरन्तर उपेक्षा ही क्यो न हो रही हो।

इसमे हमे पशु-जगत के सम्पूर्ण विकास का स्पष्ट आभास मिलता है। यह विकास वहुत दिनो से चला आ रहा है। इसे करोडो वर्प वीत चुके। यदि हम इससे मुक्त होना चाहे, तो भी नही हो सकते। मनुष्य के लिए अपने दो हाथो और दो पावो से जानवरो की तरह चलने का अभ्यास करना सहज हो सकता है, किन्तु इस नैतिक अनुभूति से मुक्त होना सहज नहीं।

घ्राणेन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय के वोध की तरह नैतिक वोध भी हमारे अन्दर एक प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कानून और धर्म ने भी इस सिद्धान्त

का उपदेश दिया है, किन्तु विजेता, शोषणकर्त्ता और पुरोहितो के लाभ के लिए अपने आदेशो पर पर्दा डालने के उद्देश्य से ही उन्होने इस सिद्धान्त की चोरी की है। एकता के इस सिद्धान्त के विना, जिसकी न्यायशीलता के सव लोग कायल है, वे मनुष्यो के मन पर अपना अधिकार ही किस प्रकार जमा सकते थे ?

कानून और धर्म ने इस सिद्धान्त का लवादा अपने ऊपर ओढ लिया है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अधिकारी अपने को वलवानों के विरुद्ध दुर्वलो का रक्षक वताकर अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करते है।

कानून, धर्म और शासन का परित्याग करके मनुष्य-जाति उस नैतिक सिद्धान्त को पुन प्राप्त कर सकती है, जो उससे छीन लिया गया है। उसे फिर से प्राप्त करना सलिए आवश्यक है कि मनुष्य उसकी समालोचना कर सके, और उसे उन विकारो से मुक्त कर सके, जिनसे पुरोहित, न्यायकर्त्ता और शासक ने उसे विषाक्त वना डाला है और इस समय भी वना रहे है।

"दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम अपने साथ किया जाना पसन्द करते हो", यही तो अराजकता का मौलिक सिद्धान्त है और तवतक कोई अपनेको अराजकवादी (अनार्किस्ट) क्योकर समझ सकता है, जवतक कि वह इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण न करे ?

हम लोग अपने ऊपर किसीका शासन नही चाहते। क्या इसी वात से हम इस तथ्य की घोषणा नही करते कि हम किसीपर शासन नही करना चाहते ? हम किसीसे ठगा जाना पसन्द नही करते। हम वरावर सत्यशील वनना चाहते है। क्या इसी वात से हम यह घोषणा नही करते कि हम किसी को धोखा देना नही चाहते, हम सदा सत्य (सम्पूर्ण सत्य, एकमात्र सत्य ही) वोलने की प्रतिज्ञा करते है ? हम यह नही चाहते कि हमारे परिश्रम की कमाई हमसे कोई चुरा ले, तो क्या इस वात से हम यह घोषणा नही करते कि हम दूसरो के परिश्रम की कमाई के प्रति आदर-भाव रखते है ?

हम किस हक से यह दावा कर सकते है कि हमारे साथ तो एक प्रकार

का व्यवहार हो और हम दूसरो के साथ बिल्कुल दूसरे ढग से व्यवहार करे ? इस प्रकार की भावना के विरुद्ध हमारा समानता का ज्ञान विद्रोह कर बैठता है ।

परस्पर के व्यवहार मे समानता और इससे उत्पन्न होनेवाली एकता, यही पशु-जगत का सबसे बढकर शक्तिशाली शस्त्र है, जिससे उसे जीवन-सग्राम मे सहायता मिलती है। समानता ही न्याय है ।

अपने को अराजकवादी घोषित करके हम इस बात की पहले घोषणा कर देते है कि हम दूसरो के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना नही चाहते, जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने साथ किया जाना पसन्द नही करते । हम अब इस अन्याय को सहन नही करेंगे, जिसके कारण हममे से कुछ लोगो ने अपनी शक्ति, चालाकी या योग्यता का इस ढग से उपयोग किया है, जिस ढग से उक्त गुणो का अपने प्रति प्रयोग किये जाने पर हम बेहद नाराज हो उठेंगे । सब बातो मे समानता, जो न्याय का पर्यायवाची शब्द है, यही सक्रिय अराजकता है । इससे हम सिर्फ कानून, धर्म और प्रभुता—इस त्रिमूर्ति के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा नही करते, बल्कि अराजकवादी बनकर हम ठगी, धूर्तता, शोषण, भ्रष्टता, पाप—एक शब्द मे असमानता—के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते है, जो हमारे हृदय मे कानन, धर्म तथा शासन ने डाल दी है । वे जिस ढग से कार्य करते है, जिस ढग से विचार करते है, उसके विरुद्ध हम युद्ध की घोषणा करते है । शासित, वचित, शोषित और दूषित—ये सबसे बढकर हमारे समानता के ज्ञान पर आघात पहुचाते है । समानता के नाम पर हम इस बात के लिए कृतसकल्प है कि समाज मे कोई स्त्री-पुरुष भ्रष्ट, शोषित, वचित और शासित रूप मे न रह जाय ।

अबतक हम मनुष्य के सचेतन-विवेचनायुक्त कार्यो की—ऐसे कार्यों की, जिन्हे वह जान-बूझकर करता है—चर्चा करते आये है ; किन्तु हमारे इस सचेतन जीवन के साथ-साथ एक अचेतन जीवन भी है, जो बहुत ही व्यापक है । प्रात काल मे हम किस प्रकार की पोशाक पहनते है ; यह

जानते हुए भी कि रात मे कोट का एक बटन खो गया है, हम बटन लगाने की कोशिश करते है, और जिस चीज को हमने खुद हटाकर अलग कर दिया है, उसे लेने के लिए हाथ फैलाने की चेष्टा करते है—यह देखकर ही हमे अपनी इन क्रियाओ मे उस अचेतन जीवन का आभास मिल सकता है, और हम इस बात का अनुभव कर सकते है कि हमारे अस्तित्व मे इसका कितना बडा स्थान है ।

दूसरो के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसमे तीन-चौथाई भाग इस अचेतन जीवन का है । हम जिस प्रकार बोलते है, हँसते है, वाद-विवाद मे उत्तेजित हो जाते है, या शान्त रहते है, हमारे ये सब काम अनिच्छाकृत होते है । ये हमारे अभ्यास के परिणामस्वरूप है, जिसे हमने अपने पूर्वजो से उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त किया है, अथवा चेतन या अचेतन रूप मे पाया है ।

हम लोग दूसरो के साथ जिस प्रकार का आचरण करते है, वह इस प्रकार अभ्यासगत हो जाता है । कोई जैसा अपने साथ व्यवहार किया जाना पसन्द करता है, वैसा ही दूसरो के साथ व्यवहार करना, मनुष्य के लिए तथा समस्त सामाजिक प्राणियो के लिए अभ्यास-सा बन जाता है । यह अभ्यास इतना बद्धमूल हो जाता है कि मनुष्य अपने-आप से यह पूछता तक नही कि उसे ऐसी अवस्थाओ मे किस प्रकार का आचरण करना चाहिए । अवस्था-विशेष मे, या किसी जटिल विषय मे, अथवा किसी शक्ति-शाली मनोविकार के आवेश मे आकर मनुष्य आगा-पीछा सोचने लगता है और उसके मस्तिष्क के विभिन्न भागो मे सग्राम-सा होने लगता है, क्योकि मस्तिष्क एक जटिल चीज है, जिसके विभिन्न भाग एक निश्चित सीमा तक एक-दूसरे से बिल्कुल स्वाधीनतापूर्वक कार्य करते है । जब इस प्रकार की घटना होती है तो मनुष्य अपनी कल्पना मे अपने विरोधी मनुष्य के स्थान मे अपनेको रखकर अपने-आप से पूछता है कि क्या वह अपने साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाना पसन्द करेगा, वह अपनेको उस व्यक्ति से, जिसकी प्रतिष्ठा या स्वार्थ पर वह क्षति पहुचानेवाला था, जितना ही

अधिक अभिन्न समझेगा, उतना ही अधिक नीतियुक्त उसका निर्णय होगा। या यह भी हो सकता है कि उसका कोई मित्र आ जाय, और उससे कहे—"अपनेको उसके स्थान मे कल्पना कर लो। जैसा तुमने उसके साथ व्यवहार किया है, वैसा ही व्यवहार यदि तुम्हारे साथ किया जाता तो क्या तुम सहन करते ?" बस, इतना ही काफी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम समानता के सिद्धान्त के नाम पर उसी अवस्था मे अपील करते है, जब हम स्वय सशय मे पड जाते है, और फी-सदी ९९ अवसरो पर हम अभ्यास के कारण नीतिसगत आचरण करते है।

यह प्रत्यक्ष है कि अबतक हमने जो कुछ कहा है, उसमे किसी प्रकार के आदेश देने की चेष्टा नही की है। हमने केवल इस बात का निर्देश कर दिया है कि पशु-जगत और मनुष्य-समाज मे किस प्रकार घटनाए हुआ करती है।

प्राचीनकाल मे मनुष्य को नीति-ज्ञान की शिक्षा देने के लिए धर्माधिकारीगण नरक का भय दिखलाया करते थे। परिणाम-स्वरूप लोग उल्टे और नीति-भ्रष्ट बन जाते थे।

जज लोग उन सामाजिक सिद्धान्तो के नाम पर, जिन्हे उन्होने समाज से चुरा लिया है, कैद, बेंत और फासी की सजा की धमकी देते है, और वे उन्हे नीति-भ्रष्ट कर डालते है। फिर भी जब यह कहा जाता है कि जज लोग भी पुरोहितो की तरह इस मानव-समाज से उठ जायगे तो अधिकारी लोग चिल्लाने लगते है कि इससे तो समाज को बडा खतरा है।

किन्तु हम जजो और उनके दण्डो की उपेक्षा करने से डरते नही। हम सब प्रकार के आदेशो की, यहा तक कि सदाचार के दायित्व की भी, उपेक्षा करते है। हम यह कहने से डरते नही कि—"तुम जो कुछ करना चाहते हो, तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो," क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि अधिकाश मनुष्यो का जिस अनुपात मे ज्ञान बढेगा और जिस पूर्णता के साथ वे वर्त्तमान बन्धनो से अपनेको मुक्त करेंगे, उसी अनुपात मे वे समाज के लिए सदा लाभदायक दिशा मे कार्य करेंगे, ठीक वैसे ही, जैसे हम लोग

पहले ही यह विश्वास कर लेते है कि बच्चा किसी दिन अपने दो पावो से चलेगा, न कि चारों हाथ-पैरों से, क्योकि माता-पिता से उसका जन्म हुआ है और वह मनुष्य-जाति का है ।

हम लोग सिर्फ इतना ही कर सकते है कि सलाह दे । सलाह देते समय हम इतना और कहते है—"यदि तुम्हारा अपना अनुभव और समीक्षा तुम्हे यह नही बतलावे कि यह सलाह मानने योग्य है तो इस सलाह का कोई मूल्य न होगा ।"

हम जब किसी युवक को झुकते हुए और अपनी छाती तथा फेफडो को सिकोडते हुए देखते ह तो हम उसे सलाह देते है कि वह सीधा हो जाय, अपने मस्तक को ऊँचा रखे और छाती को तानकर चले । हम उसे यह सलाह देते है कि वह अपने फेफडो को हवा से भरे और जोर-जोर से सास ले, क्योकि क्षय रोग से बचने का यही सर्वोत्तम उपाय है । किन्तु इसके साथ ही हम उसे शरीर-विज्ञान की भी शिक्षा देते है, जिससे वह फेफडो की क्रियाए समझ सके और अपने लिए ऐसी चाल-ढाल चुन ले, जिसे वह सर्वोत्तम समझता है ।

नीति के सम्बन्ध मे भी हम इतना ही कर सकते है। हमे सलाह देने भर का अधिकार है, इसके साथ-साथ हम इतना और कहते है—"यदि यह सलाह तुम्हे अच्छी लगे तो इसके अनुसार कार्य करो ।"

किन्तु यद्यपि हम प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देते है कि वह अपनी समझ के अनुसार कार्य करे और समाज को यह अधिकार बिल्कुल नही देते कि वह किसी व्यक्ति को समाज-विरोधी कार्य करने के लिए किसी भी रूप मे दण्ड दे, तथापि जो बात अच्छी लगे, उससे प्रेम करने और जो बात बुरी लगे, उससे घृणा करने की जो क्षमता हममे मौजूद है, उसे हम छोडते नही । प्रेम करना और घृणा करना, ये दो अस्त्र हमारे पास है, क्योकि जो लोग घृणा करना जानते है, वही यह भी जानते है कि प्रेम किस प्रकार किया जाता है । हम इस क्षमता को अपने मे कायम रखते है और यदि केवल इस क्षमता से ही प्रत्येक पशु-समाज मे भी नैतिक भावनाओ

का विकास कायम रहता है, तो फिर यह मानव-जाति के लिए और भी पर्याप्त होगा ।

हम सिर्फ एक बात चाहते हैं । वर्तमान समाज मे इन दो भावनाओ के विकास में—प्रेम-भाव तथा घृणा-भाव मे—जो सब वस्तुए बाधा पहुचाती हैं, उन्हे अलग कर दिया जाय, उन सब वस्तुओ को छाटकर दूर कर दिया जाय, जो हमारी न्याय-बुद्धि को विकृत कर देती हैं—अर्थात् राज्य, धर्माचार्य, न्यायाधीश, पुरोहित, शासक और शोषक ।

आज जब हम किसी जैक नामक हत्यारे को एक-एक करके गरीब और दुखिनी स्त्रियो की हत्या करते देखते हैं तो सबसे पहले हममे घृणा की भावना उत्पन्न होती है । यदि हमे वह उस दिन मिल गया होता, जिस दिन उसने उस स्त्री की, जिससे उसने सराय मे रहने और खाने-पीने का खर्च मागा था, हत्या की थी, तो हम उसके (जैक के) सिर मे गोली मार देते, और इस बात पर बिल्कुल विचार नही करते कि उसे गोली मारने की अपेक्षा उस सराय के मालिक को गोली मारना कही अच्छा होता ।

किन्तु जब हम उसकी कलक-कथाओ की याद करते हैं, जिसके कारण उसकी यह दुर्गति हुई है, जब हम उस अन्धकार के विषय मे सोचते हैं, जिसमे उसे विचरण करना पडता है, जब हम उन चित्रो के विपय मे विचार करते हैं, अथवा उन अश्लील पुस्तको के बारे मे, जिनके कारण उसके मन मे बार-बार बुरे भाव उदित हुए हैं और उन विचारो का खयाल करते हैं, जो मूर्खतापूर्ण पुस्तको से उसे प्राप्त हुए हैं, तो हमारी भावना कुछ और ही हो जाती हैं । और किसी दिन जब हम यह सुनते हैं कि जैक का मुकदमा किसी ऐसे जज के यहा हो रहा है, जिसने इतनी अधिक सख्या मे निष्ठुरतापूर्वक स्त्री, पुरुष और बच्चो की हत्याए की हैं, जितनी हत्याए जैक-जैसे और कितने ही लोगो ने मिलकर भी न की होगी—यदि हम उसे इस प्रकार के किसी पागल के हाथो में देखते हैं, उस समय जैक के प्रति हमारी सारी घृणा काफूर हो जाती है । उस समय हमारी यह घृणा भीरु और पाखंडी समाज तथा उसके माने हुए प्रतिनिधियों के प्रति घृणा में परिवर्तित हो जाती है । कानून के

नाम पर जो बहुसख्यक कलकजनक कार्य किये जाते है, उनके सामने जेर्क के कुकृत्य नगण्य प्रतीत होते है। इन कानून-जनित कलको से ही हम घृणा करते है।

वर्त्तमान समय मे हमारी भावनाए बरावर विभाजित-विच्छिन्न बनी रहती है। हम यह अनुभव करते है कि हम न्यूनाधिक ज्ञात या अज्ञात रूप से इस समाज के प्रोत्साहक है। हम घृणा करने का साहस नही करते। क्या हम प्रेम करने का साहस करते है ? शोषण और दासता पर जो समाज अवस्थित होता है, उसमे मानवीय प्रकृति का अध पतन होता है।

किन्तु दासता के लुप्त हो जाने पर हम अपने अधिकारो को पुन प्राप्त करेगे। हम अपने अन्दर इतनी शक्ति अनुभव करेगे, जिससे हम जटिल अवस्थाओ मे भी घृणा और प्रेम कर सके।

अपने दैनिक जीवन मे हम सहानुभूति या विद्वेष की अनुभूति को स्वतन्त्र रूप मे प्रकट करते है, और प्रत्येक क्षण हम ऐसा करते रहते है। हम लोग नैतिक शक्ति से प्रेम करते है तथा नैतिक दुर्बलता और कायरता से घृणा करते है। प्रत्येक क्षण मे हमारे शब्द, हमारी मुखाकृति और हमारी मुस्कराहट हमारे उस आनन्द को प्रकट करती है, जो आनन्द हमे मानव-जाति के लिए हितकर कार्यों को—जिन कार्यो को हम अच्छा समझते है—देखकर होता है। प्रत्येक क्षण हमारी मुखाकृति और हमारे शब्द हमारी उस घृणा को प्रकट करते है, जो घृणा हम भीरुता, ठगविद्या, षड्यन्त्र और नैतिक निर्बलता के प्रति प्रकट करते है। हम उस समय भी अपनी विरक्ति प्रकट करते है, जब दुनियवी शिक्षा के प्रभाव मे आकर हम अपनी घृणा को उन मिथ्या रूपो के अन्दर छिपाने की चेष्टा करते है, जो मिथ्या रूप हम लोगो के बीच समानता का सम्बन्ध स्थापित होते ही लुप्त हो जायगे।

अच्छे और बुरे की भावना को एक निश्चित धरातल पर कायम रखने और एक को दूसरे से परिचित रखने के लिए इतना ही काफी है। यह भावना उस समय और भी अधिक प्रभावशाली हो जायगी, जब समाज मे जज या पुरोहित नही रह जायगे, जब नैतिक सिद्धान्तो की बाध्यता नष्ट हो जायगी

और जब वे समान स्थिति के मनुष्यो के बीच केवल पारस्परिक सम्बन्ध के रूप मे समझे जायगे।

इसके सिवा जितना ही अधिक यह सम्बन्ध स्थापित होगा, उतनी ही उच्चतर नैतिक भावना समाज के अन्दर उदित होगी। इसी भावना का हम विश्लेषण करने जा रहे है।

अवतक हमने जो विश्लेषण किया है, उसमे सिर्फ समानता के सरल सिद्धान्त वताये गए है। हमने विद्रोह किया है और दूसरो को भी उन लोगों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए आमन्त्रित किया है, जिन्होने अपना यह अधिकार मान रखा है कि वे अपने साथ जैसा व्यवहार किया जाना पसन्द करते है, वैसा व्यवहार दूसरो के साथ नही करे। हमने उन लोगो के विरुद्ध भी विद्रोह किया है, जो स्वय तो ठगा जाना, शोषित किया जाना, दूषित किया जाना या बुरा व्यवहार किया जाना नही चाहते; किन्तु दूसरो के साथ ऐसा ही व्यवहार करते है। हमने कहा है कि मिथ्या-भाषण और पाशविकता घृणाजनक है, किन्तु ये चीजे घृणोत्पादक इसलिए नही है कि वे स्मृतियो के विरुद्ध है, वल्कि इसलिए कि इस प्रकार का आचरण ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के मन मे समानता के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है, जिसके लिए समानता एक निरर्थक शब्दमात्र नही है। और सवसे बढ़कर यह उन लोगो के मन मे विद्रोह की भावना उत्पन्न करता है, जो विचार करने और कार्य करने मे सच्चे अराजकवादी है।

यदि ये सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट सिद्धात जीवन मे काम मे लाये जाय तो इसका परिणाम होगा एक उच्च नीतिज्ञान। इस नीतिज्ञान मे उन सव वातो का समावेश हो जायगा, जिनकी शिक्षा वहुत पुराने जमाने से हमें नीतिनिष्ठो ने दी है।

समानता के सिद्धात मे नीतिनिष्ठो की शिक्षाओ का सार है, किन्तु इसके सिवा इसमें और कुछ भी है, और यह और कुछ, व्यक्ति के प्रति सम्मान है। अपनी समानता सम्वन्धी नीति-विज्ञान की या अराजकता की घोषणा करके हम उस अधिकार को मानने से इन्कार करते है, जिसका नीति-

निष्ठो ने वरावर दावा किया है। वह अधिकार है किसी आदर्श के नाम पर व्यक्ति को अगहीन करना। हम स्वय अपने लिए या किसी दूसरे के लिए इस अधिकार को विल्कुल नही मानते।

हम व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानते हैं। हम उसके लिए जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओ का स्वतन्त्र विकास चाहते हैं। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नही चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धात पर पहुचते है, जिस सिद्धात को फोरिये ने धार्मिक नीतिज्ञान के विरोध मे रखते हुए कहा था—"मनुष्य को विल्कुल स्वतत्र छोड दो। उसे अगहीन मत वनाओ, क्योकि धर्म उनको वहुत-कुछ अपग—जरूरत से ज्यादा अपग—बना चुका है। उनके मनोद्वेगो से भी मत डरो। स्वतत्र समाज में ये खतरनाक नही होते।"

यदि आप स्वय अपनी स्वाधीनता का परित्याग न करे, यदि आप स्वय अपने आपको दूसरो द्वारा गुलाम न बनने दे और यदि आप किसी व्यक्ति के प्रचण्ड और समाज-विरोधी मनोद्वेग का समान रूप मे अपने प्रचण्ड—समाज के लिए उपयोगी—जोश द्वारा विरोध करे तो आपके लिए स्वतत्रता से डरने की कोई वात नही रह जायगी।

हम किसी भी आदर्श के नाम पर व्यक्ति को अगहीन करने की भावना का परित्याग करते हैं, हम अपने लिए सिर्फ इतना ही सुरक्षित रखना चाहते हैं कि हमे जो-कुछ अच्छा या वुरा मालूम हो, उसके प्रति हम स्पष्टरूप से अपनी सहानुभूति और विरक्ति प्रकट करे। एक मनुष्य अपने मित्रो को धोखा देता है। उसकी प्रवृत्ति ही ऐसी है, ऐसा करना उसका स्वभाव है। अच्छा, तो यह हमारा स्वभाव है—हमारी यह प्रवृत्ति है—कि हम झूठ वोलनेवालो से घृणा करे। चूकि यह हमारा स्वभाव है, इसलिए हमे स्पष्टरूप मे ऐसा करना चाहिए। हम दौडकर उसे न छाती से लगावे और न उससे हाथ मिलावें, जैसाकि आजकल कभी-कभी किया जाता है। हमे अपने सक्रिय मनोद्वेग के द्वारा उसके मनोद्वेग का प्रचण्ड रूप मे विरोध करना चाहिए।

हमे सिर्फ इतना ही करने का अधिकार है। समाज मे समानता के

सकता। जिस तरह फूल खिलने पर मुरझाकर सूख जाता है, उसी प्रकार यदि दान करते हुए उसके भी जीवन का अन्त हो जाय तो कुछ भी हर्ज नही। यदि जीवन मे रस है, तो वह, ऊपर चढेगा ही।

शक्तिशाली बनो। मानसिक आवेग तथा बौद्धिक शक्ति के उच्छ्वास से अपने को परिप्लावित कर दो, तभी तुम अपनी बुद्धि, अपने प्रेम और अपनी क्रियाशक्ति का दूसरो मे प्रचार कर सकोगे। सब नैतिक शिक्षाओ का सार यही है।

सच्चे नीतिनिष्ठ पुरुष की जिस बात की मनुष्य-समाज प्रशसा करता है, वह है उसकी शक्ति—उसके जीवन का बाहुल्य, जो उसे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह अपनी बुद्धि, अपनी अनुभूति, अपनी क्रियाशक्ति दूसरे को प्रदान करे और बदले मे कुछ भी न चाहे।

प्रबल चिन्ताशील व्यक्ति, जो बौद्धिक जीवन से भरपूर बना रहता है, स्वभावत अपने भावो को बाटना चाहता है। विचार करने मे क्या आनन्द मिल सकता है, जबतक कि वे विचार दूसरो तक पहुचाये न जा सके? जो लोग मानसिक दृष्टि से दरिद्र होते है, वे ही अत्यन्त कष्ट से ढूढ निकाले हुए भावो को यत्नपूर्वक छिपाते है, ताकि वे उसपर अपने नाम की छाप लगा सके, किन्तु परिपक्व बुद्धिवाले मनुष्य अपने भावो को लेकर उच्छ्वसित हो उठते है, और वे उन्हे दोनो हाथो से वितरण करते है। यदि वे अपने विचारो का भागी दूसरो को नही बना सकते और यदि वे उन्हे चारो दिशाओ मे विकीर्ण नही कर सकते तो उन्हे अपना जीवन कष्टप्रद प्रतीत होता है, क्योकि इस दान मे ही उनका जीवन है।

यही बात अनुभूति के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। हम अपने लिए पर्याप्त नही है—"हमारे पास जितने आँसू है, वे हमारे निजी कष्टो से कही अधिक है (यानी वे दूसरो के कष्टो के लिए भी बहाये जाने चाहिए), और हमारे जीवन के लिए जितना आनन्द उचित होना चाहिए, उसकी अपेक्षा हममें कही अधिक आनन्द-उपभोग की क्षमता है।" गुयाऊ ने इन दो पक्तियो मे हमारे नीतिशास्त्र का सार निचोडकर रख दिया है। एकाकी

मनुष्य दुखी और अशान्त बना रहता है, क्योकि वह अपने विचारो और अनुभूतियो मे दूसरो को शामिल नही कर सकता। जब हम किसी महान् आनन्द का अनुभव करते है तो हमारी यह इच्छा होती है कि हम दूसरो को यह बतावे कि हम जिन्दा है, हम अनुभव करते है, हम प्रेम करते है, हम जीवन धारण करते है, हम जीने के लिए सग्राम करते है, हम युद्ध करते है।

इसके साथ ही हम इस बात की भी आवश्यकता अनुभव करते है कि हम अपनी इच्छा-शक्ति का—अपनी सक्रिय शक्ति का—प्रयोग करे। बहुसख्यक मनुष्यो के लिए कार्य करना एक आवश्यक वस्तु हो जाता है। यह आवश्यकता इतनी बडी होती है कि जब असगत दशाओ के कारण स्त्री-पुरुष किसी लाभदायक कार्य से विच्छिन्न हो जाते है तो वे कोई ऊटपटाग कार्य या व्यर्थ के दायित्व ढूढ निकालते है, जिससे अपनी सक्रिय शक्ति के लिए वे क्षेत्र प्रस्तुत कर सके। वे किसी सिद्धात, धर्म या सामाजिक कर्त्तव्य का आविष्कार करते है, जिससे वे अपने मन को यह विश्वास दिला सके कि वे कोई लाभदायक कार्य कर रहे है। जब वे नाचते है तो परोपकार के लिए। जब वे कीमती पोशाक पहनकर अपनी बर्बादी करते है तो इसलिए कि वे अपने सम्भ्रान्त कुल की स्थिति को कायम रख सके। जब वे कुछ नही भी करते है तो सिर्फ सिद्धात के लिए।

गुयाऊ ने लिखा है—"अपने साथियो को सहारा देना हमारे लिए आवश्यक है। मानव-समाज द्वारा जो गाडी बडी कठिनता से खीची जा रही है, उसमे हम भी कन्धा लगा दे, हर हालत मे हम उसके इर्द-गिर्द मडराते रहे।" सहारा पहुचाने की यह आवश्यकता इतनी बडी होती है कि यह सब सामाजिक प्राणियो मे पाई जाती है, चाहे उनकी स्थिति कितनी ही निम्न क्यो न हो। प्रतिदिन राजनीति मे जो विशाल शक्ति का अपव्यय होता है, वह इसके सिवा और क्या है कि मानवता की गाडी को सहारा दिया जाय, या कम-से-कम उसके चारो ओर घूमा जाय।

'इच्छा-शक्ति की उर्बरता' कार्य करने की पिपासा जब अनुभूति की

दरिद्रता से युक्त होती है और बुद्धि सृष्टि करने मे अक्षम होती है तो उससे नेपोलियन या विस्मार्क जैसे व्यवित उत्पन्न होते है। इस प्रकार के पाण्डित्याभिमानी व्यक्ति संसार को जवर्दस्ती पीछे की ओर घसीटकर ले जाने की चेष्टा करते हैं। दूसरी ओर यदि मानसिक उर्वरता विकसित अनुभूति से शून्य होती है तो उसके फलस्वरूप ऐसे अहकारी साहित्यिक और वैज्ञानिक व्यक्ति उत्पन्न होते है, जो केवल ज्ञान की प्रगति मे बाधा पहुंचाते है। अन्त मे यह जान रखना चाहिए कि यदि अनुभूति को पथ-प्रदर्शित करने के लिए बुद्धि का अभाव होगा तो इससे उस स्त्री-जैसे व्यक्ति उत्पन्न होगे, जो किसी नरपशु के लिए, जिसे वह तन-मन-प्राण से प्रेम करती है, अपना सवकुछ न्योछावर कर देने को तैयार रहती है।

यदि जीवन को वस्तुत सफल वनाना है तो बुद्धि, अनुभूति और इच्छाशक्ति मे सामजस्य स्थापित करना चाहिए। जीवन की प्रत्येक दिशा की यह उर्वरता ही जीवन है और इसीका नाम जिन्दगी है। इस जीवन के एक क्षण के लिए, जिन्होने एक बार भी इसकी झाकी प्राप्त कर ली है, वे अपने घास-फूस की तरह वढनेवाले कितने ही वर्ष प्रदान कर देते है। इस प्रचुर जीवन के विना मनुष्य समय से पहले ही वृद्ध हो जाता है। वह एक नपुसक प्राणी वन जाता है। वह उस पौधे के समान है, जो फूलने के पहले ही सूख जाता है।

"इस जीवन को, जिसमे जिन्दगी है ही नही ओर जो सडी-गली चीजो से परिपूर्ण है, धता वताओ।" एक युवक वोल उठता है—वह सच्चा युवक, जिसमे जीवन-रस उच्छ्वसित हो रहा है, जो जीवित रहना चाहता है और जो अपने चारों ओर जीवन को वितरण करना चाहता है। प्रत्येक अवसर पर जव समाज का पतन होता है तो इस प्रकार के युवको के आक्रमण से प्राचीन आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाते है, जिससे नवजीवन की उत्पत्ति के लिए स्थान हो। यदि इस संग्राम में कितन ही नवयुवक खेत रहे तो इनकी कोई चिन्ता नही। फिर भी जीवन-रस का तो संचार होता ही रहता है, क्योकि यौवन के अस्तित्व का अर्थ है पुष्पित

होना, चाहे परिणाम कुछ भी क्यो न हो। नवयुवक इस बात की फिक्र नहीं करता कि उसके कार्यो का नतीजा क्या होगा, और चाहे जो भी परिणाम हो, नवयुवक उसके लिए खेद नही करता।

मानव-जीवन के वीरत्वपूर्ण अवसरो की बात जाने दीजिये, यदि हम मनुष्य के दैनिक जीवन पर ही विचार करे तो क्या अपने आदर्श से विच्छिन्न होकर रहना भी कोई जिन्दगी है ?

इन दिनो अक्सर यह कहा जाता है कि मनुष्य आदर्श के नाम पर नाक-भौ सिकोड़ते है। इसका कारण समझना कठिन नही है। इस 'आदर्श' शब्द का सरल-हृदय मनुष्यो को धोखा देने के लिए इतना अधिक दुरुपयोग हुआ है कि इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी अवश्यम्भावी है और साथ ही लाभप्रद भी है। हम भी यह चाहते है कि 'आदर्श' शब्द के, जो इतना अधिक कलकित और दूषित हो चुका है, स्थान मे कोई नया शब्द रखा जाय, जो नवीन भावो के अनुकूल हो।

किन्तु शब्द चाहे कुछ भी क्यो न हो, असल बात तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य का उसका अपना आदर्श होता है। बिस्मार्क का भी अपना निजी आदर्श था—चाहे वह आदर्श कितना ही विचित्र क्यो न था—यानी तलवार के बल पर शासन। यहा तक कि प्रत्येक असभ्य व्यक्ति का भी अपना आदर्श होता है, चाहे वह आदर्श कितना ही अधम क्यो न हो।

किन्तु इन लोगो के सिवा ऐसे मनुष्य भी है, जिन्होने उच्चतर आदर्श की कल्पना की है। पशुवत् जीवन से वे सन्तुष्ट नही हो सकते। दासता, मिथ्याभाषण, विश्वासघात, षड्यन्त्र, मानवीय सम्बन्ध मे असमानता—इन सब बातो से उन्हे घृणा होती है। वे स्वय दासवत्, मिथ्याभाषी, षड्यन्त्रकारी और दूसरे पर प्रभुत्व करनेवाले क्योकर हो सकते है ? यदि मनुष्यो मे परस्पर का सम्बन्ध अच्छा हो तो जीवन कितना सुन्दर बन सकता है, इसका आभास उन्हे मिल जाता है। वे अपनेमे इस बात की क्षमता का अनुभव करते है कि वे उन लोगो के साथ अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने मे सफल हो सकते है, जिनके साथ उनका सम्पर्क हो। उनके मन मे

एक ऐसी भावना का जन्म होता है, जिसे हम आदर्श कहते है ।

यह आदर्श कहां से आता है ? एक तो वंशानुक्रम से और दूसरे जीवन की धारणाओ से । किस प्रकार इसका गठन होता है ? हम लोग यह नही जानते । अधिक-से-अधिक हम इसकी कहानी न्यूनाधिक सत्य रूप मे अपने आत्म-चरित में वर्णन कर सकते है । पर यह एक यथार्थ तथ्य है—परिवर्त्तनशील और प्रगतिशील है, वाह्य प्रभावो से प्रभावित होता है, किन्तु वरावर सजीव वना रहता है । यह आदर्श विशेषत वह अचेतन अनुभूति है, जिससे अधिक-से-अधिक परिमाण मे प्राणशक्ति और आनन्द प्राप्त हो सकता है ।

जीवन सवल, उर्वर और सवेदनशील तभी हो सकता है, जव आदर्श की अनुभूति के अनुसार काम किया जाय । इस अनुभूति के विरुद्ध कार्य कीजिये और आपको अपना जीवन झुका हुआ—अवनत—मालूम पडेगा । उसकी सजीवता नष्ट हो जायगी । अपने आदर्श के प्रति यदि आप सच्चे नही वने रहेगे तो अन्त मे आपकी इच्छा-शक्ति और क्रियात्मक शक्ति को लकवा मार जायगा । फिर आप शीघ्र अपनी जीवन-शक्ति को प्राप्त नही कर सकेगे और आप खो वैठेगे अपने निर्णय की उस स्वच्छन्दता को, जिसे आप पहले जानते थे । आपका जीवन टूट जायगा—भग्न हो जायगा ।

यदि आप मनुष्य को स्नायु और मस्तिष्क-सम्वन्धी केन्द्रो का, जो स्वतन्त्र रूप से कार्य करते है, सम्मिश्रण समझ ले तो फिर इन वातो मे कोई रहस्य नही रह जायगा । आपके अन्दर जो विभिन्न अनुभूतिया सग्राम कर रही है, उनके वीच दुविधा मे पड़े रहिये; फिर आप देखेगे कि कितनी जल्दी आपके अवयवो का सामजस्य नष्ट हो जाता है । इच्छा-शक्ति के विना आप रोगी वन जायगे । आपके जीवन की प्रगाढ़ता कम हो जायगी । फिर आप समझौते करने की फिक्र करेगे ; पर क्या ऐसे समझौतो से जिन्दगी वापस आ सकती है ? फिर आप कभी पूर्ण, सुदृढ, सवल व्यक्ति नहीं वन सकेगे, जैसे आप उस समय थे, जवकि आपके कार्य मस्तिष्क की आदर्श भावनाओ के अनुकूल होते थे ।

ऐसे युग भी आते हैं, जब नैतिक भावनाओ में पूर्णतया परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि जिस बात को उसने नीतियुक्त समझा था, वह घोर नीति-भ्रष्टता है। उदाहरणार्थ, कोई प्रथा, जो परम्परा से नीतिमूलक समझी जाती रही है, अब स्पष्टतया नीतिभ्रष्ट मालूम पडती है। दूसरे उदाहरणो मे हम ऐसी नैतिक पद्धति पाते हैं, जो किसी श्रेणी-विशेष के स्वार्थ के लिए बनाई गई हो। उस समय हम उन्हे अलग फेक देते हैं और "नीतिमत्ता का अन्त कर डालो" यह आवाज उठाते है। उस समय नीति-विरुद्ध कार्य करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है।

हमे ऐसे युगो का स्वागत करना चाहिए, क्योकि ये युग समालोचना के युग है। वे इस बात के निर्भ्रान्ति लक्षण है कि समाज में चिन्तन-शक्ति कार्य कर रही है, उच्चतर नीतिनिष्ठा काम करने लग गई है। यह नीतिमत्ता क्या होगी, उसकी हमने सूत्र-रूप मे व्याख्या की है, और इसके लिए हमने मनुष्य और पशु-जीवन के अध्ययन को अपना आधार माना है।

हमने नीतिज्ञान के उस रूप को देखा है, जो इस समय भी जनता और विचारशील लोगो के भावो मे आकार धारण कर रहा है। इस प्रकार के नीति-ज्ञान मे आदेश जारी नही किये जायगे। यह सदा के लिए किसी अमूर्त्त भावना के अनुसार व्यक्तियो को साचे मे ढालना अस्वीकार कर देगा, क्योकि यह उन्हे धर्म, कानून या सरकार द्वारा अगहीन नही बनाना चाहता। यह व्यक्ति के लिए पूर्ण और सर्वांग-सम्पन्न स्वाधीनता देगा। यह तथ्यो का एक सरल विवरण—एक विज्ञान होगा। और यह विज्ञान मनुष्य से कहेगा—"यदि तुम अपनी आन्तरिक शक्ति से परिचित नही हो, यदि तुम्हारी शक्तिया सिर्फ इसी बात के लिए पर्याप्त है कि तुम अपने निस्तेज और अपरिवर्त्तनशील जीवन को बिना किसी गहरी छाप के, बिना गम्भीर आनन्द और साथ ही बिना किसी गभीर शोक के, कायम रख सको, तो न्यायानुकूल समानता के सरल सिद्धातो पर अपनेको सलग्न रखो। समानता के सम्बन्ध से तुमको अपनी दुर्बल शक्तियो के अनुसार यथासभव अधिक-से-अधिक आनन्द मिलेगा।

"किन्तु, अगर तुम्हे अपने भीतर जवानी की ताकत महसूस होती है, अगर तुम जीते रहना चाहते हो, अगर तुम निर्दोष, सर्वांगपूर्ण और उभरती हुई जिंदगी का आनन्द लेना चाहते हो—यानी अगर तुम उन सर्वोच्च आनन्दो को जानना चाहते हो, जिनकी कोई भी जीवित प्राणी आकाक्षा कर सकता हे—तो मजबूत बनो, महान् बनो और जो कुछ भी तुम करो, उसमे दृढता से काम लो।

"अपने चारो तरफ जीवन के बीज बोओ। खबरदार ! अगर तुम धोखा दोगे, झूठ बोलोगे, षड्यत्र रचोगे, चकमा दोगे, तो तुम उससे खुद अपने-आपको पतित करोगे—अपने-आपको छोटा बनाओगे, पहले से अपनी कमजोरिया कबूल करोगे और तुम्हारी हालत जनानखाने के उस गुलाम की तरह होगी, जो हमेशा अपनेको अपने मालिक से छोटा समझता है। अगर तुम्हे यही बाते भाती हे, तो इन्हींको करो, लेकिन उस हालत मे लोग तुम्हे नाचीज, घृणास्पद और कमजोर समझेगे, और तुम्हारे साथ वैसा ही बर्त्ताव करेंगे। तुम्हारी ताकत का कोई सबूत न होने के मानी यह होगे कि जनता तुम्हे करुणा का पात्र समझेगी—केवल करुणा का पात्र, बस !

"जब तुम खुद अपने-आप अपनी शक्तियो को पगु बनाते हो तो दुनिया को दोष मत दो। इसके खिलाफ अपनेको शक्तिशाली बनाओ और अगर तुम्हे कही कोई अन्याय दिखाई दे और तुम उसे अन्याय या अधर्म मानते हो—चाहे वह जीवन का कोई अन्याय हो, विज्ञान का कोई झूठ हो, या किसीपर किसीका किया हुआ जुल्म हो—तो तुम उस अन्याय, उस झूठ या उस जुल्म के खिलाफ उठकर बगावत करदो।

"सघर्ष करो, ताकि सारी दुनिया सुखी और खुशहाली से भरा-पूरा जीवन बिता सके। विश्वास रखो कि इस सघर्ष मे तुम्हे वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई बात तुम्हे नही दे सकती।"

नीतिशास्त्र आपको जो-कुछ बतला सकता है, वह सिर्फ इतना ही है। इसे मानना या न मानना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

: ४ :

# अराजकता : सिद्धान्त और आदर्श

ऐसे लोगो की सख्या अब भी काफी है जो यह खयाल करते है कि अराजकता भविष्य के सबध मे स्वप्नो का सग्रह-मात्र है, और उसका उद्देश्य वर्त्तमान सभ्यता का विध्वस करना है, चाहे यह विध्वस का प्रयत्न, बे-समझे-बूझे ही किया जा रहा हो। इस प्रकार के विचार जो लोग रखते है, उनके पक्षपातपूर्ण सस्कारो के आधार को स्पष्ट कर देने के लिए हमे बहुत छोटी-छोटी बातो पर विचार करना होगा। इनपर सक्षेप मे विचार करना मुश्किल है।

कुछ समय से अराजकवादियो की चर्चा इतनी अधिक होने लगी है कि जनता के एक भाग ने आखिर हमारे सिद्धातो का अध्ययन करना और उनकी विवेचना करना शुरू कर दिया है। कभी-कभी लोगो ने इसपर विचार करने का भी कष्ट उठाया है,और इस समय हमने कम-से-कम इस बात को तो लोगो से मजूर करा लिया है कि अराजकवादियो का भी कोई आदर्श है, बल्कि लोग यहा तक कहने लगे है—"मनुष्य-समाज मे सब देवता-ही-देवता थोडे है। इसलिए अराजकवादियो का आदर्श समाज के देखे इतना अधिक ऊँचा और इतना अधिक सुन्दर है कि वह सर्वथा अव्यवहार्य है।"

किन्तु क्या मेरे लिए किसी दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध मे कुछ कहना आडम्बरपूर्ण न होगा, जबकि हमारे समालोचको के अनुसार हमारे आदर्श सुदूर भविष्य के स्वप्न-मात्र है? क्या अराजकता इस बात का दावा कर सकती है कि उसका कोई दर्शन है, जबकि यही स्वीकार नही किया जाता है कि साम्यवाद का भी कोई दर्शन है? इसीके सबध मे यथासभव पूर्ण स्पष्टता के साथ उत्तर देने जा रहा हूँ। पहले मै प्राकृतिक विज्ञान से कुछ मौलिक सिद्धात लेकर शुरू करता हूँ, इस उद्देश्य से नही कि हम उनसे अपने सामाजिक भावो का निर्णय करे, बल्कि इस वजह से कि प्राकृतिक दृष्टातो के द्वारा, हम अपने प्रश्नो पर आसानी के साथ प्रकाश डाल सकते है, क्योकि उसके तथ्य गणित

इत्यादि विज्ञानो के द्वारा सत्य सिद्ध किये जा सकते है और उलझे हुए मानव समाज के दृष्टातो द्वारा ऐसा करना बहुत कठिन है ।

भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध मे इस समय हमे एक विशेष उल्लेखनीय बात यह दीख पडती है कि विश्व के तथ्यो के सम्बन्ध मे और उनकी सपूर्ण भावनाओ में गम्भीर परिवर्त्तन हो रहा है ।

एक समय ऐसा था, जब मनुष्य यह समझता था कि पृथिवी विश्व-ब्रह्माड के मध्य मे स्थित है । सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र हमारी इस पृथिवी के चारो ओर घूमते है । यह पृथिवी, जिसपर मनुष्य का वास है, मनुष्य के लिए सृष्टि का केन्द्र है । वह स्वय—अपने ग्रहमडल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के कारण—अपनी सृष्टि का विशिष्ट जीव है । सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रो की सृष्टि उसीके लिए हुई है—ईश्वर का सारा ध्यान उसीकी ओर प्रवर्तित होता है, जो उसके छोटे-से-छोटे कार्यो पर भी दृष्टि रखता है, उसके लिए सूर्य की गति को रोक देता है और मनुष्य-जाति के अपराधो का दंड देने या पुण्यो का फल देने के लिए ग्रामो या नगरो पर वर्षा या वज्र गिराता है'। सहस्रो वर्ष तक मनुष्य ने विश्व को इसी रूप मे समझ रखा था । सोलहवी शताब्दी में सभ्य मानव-जाति की समस्त भावनाओ मे एक महान् परिवर्त्तन उत्पन्न हुआ,जबकि यह सिद्ध कर दिया गया कि पृथिवी विश्व-ब्रह्माड का केन्द्र न होकर सौर-मडल मे बालू के एक कण के समान है,—अन्य ग्रहो की अपेक्षा यह बहुत छोटी है, और सूर्य यद्यपि हमारी इस क्षुद्र पृथिवी की अपेक्षा बहुत बडा है, फिर भी वह असख्य नक्षत्रो मे, जिन्हे हम आकाश मे प्रकाशमान और आकाशगंगा मे श्रेणीबद्ध देखते है, एक नक्षत्र-मात्र है । इस असीम विशालता के सामने मनुष्य कितना तुच्छ और उसका आडम्बर कितना उपहासजनक मालूम पडता है । उस युग के समस्त दर्शनशास्त्र तथा समस्त सामाजिक और धार्मिक भावनाओ पर सृष्टि-क्रम के इस परिवर्त्तन का प्रभाव पडा । प्राकृतिक विज्ञान, जिसकी वर्त्तमान उन्नति पर हम गर्व करते है, उस समय से ही शुरु होता है ।

किन्तु इस समय समस्त विज्ञानो में उससे भी कही बढकर एक प्रगाढ

परिवर्त्तन हो रहा है, जिसके परिणाम और भी दूरव्यापी होगे, और अराजकता इस क्रम-विकास की अनेक अभिव्यक्तियो में से एक अभिव्यक्ति है ।

गत शताब्दी के ज्योतिष-शास्त्र की किसी रचना को ले लीजिये । आप उसमे हमारे इस क्षुद्र ग्रह—पृथिवी—को विश्व-ब्रह्माड के केन्द्र मे नही पायेगे; किन्तु आपको पग-पग पर एक केन्द्रीय नक्षत्र—सूर्य—की कल्पना मिलेगी, जो अपने शक्तिशाली आकर्षण से हमारे नक्षत्र-जगत् पर शासन करता है ।

इस केन्द्रीय स्थान से एक शक्ति विकीर्ण होती है, जो ग्रहो की गति का परिचालन करती है और सौर-जगत् के सामजस्य को अक्षुण्ण बनाये रखती है । केन्द्रीय राशि से उत्पन्न होने के कारण ये नक्षत्र मानो उससे मुकुलित हुए हो । उनकी उत्पत्ति इस राशि से हुई है, इस ज्योतिष्मान नक्षत्र के कारण उनकी गतियो मे सामजस्य रहता है, उनकी कक्षाए एक-दूसरे से नियमित दूरी पर रहती है, और उनमे जीवन रहता है, जो जीवन उन्हे अनुप्राणित और उनके बहिर्भाग को विभूषित करता है । जब किसी विक्षोभ के कारण उनकी गति मे बाधा पडती है, और वे अपनी कक्षाओ से विचलित हो जाते है, उस समय यह केन्द्रीय ग्रह सौर मडल मे फिर से शृखला उत्पन्न कर देता है । वह उसके अस्तित्व को निश्चित और चिरस्थायी बनाता है ।

किन्तु यह भावना भी अन्य भावनाओ के समान अब लुप्त हो रही है । सूर्य तथा अन्य बडे-बडे ग्रहो पर अपने ध्यान को केन्द्रित करने के बाद ज्योतिषी लोग सब अत्यत छोटे-छोटे ग्रहो का, जो विश्व को परिपूर्ण कर रहे है, अध्ययन करने लगे है । उन्होने यह पता लगाया है कि ग्रहो और नक्षत्रो के बीच जो स्थान है, वे सभी दिशाओ मे छोटे-छोटे द्रव्यो के समूह से परिपूर्ण और अतिक्रमित होते रहते है । ये द्रव्य पृथक् रूप मे अदृश्य और अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु सामूहिक रूप मे सर्वशक्तिमान है ।

ये ही अत्यत सूक्ष्म वस्तुए द्रुत गति से अनन्त अवकाश के बीच होकर दौडती रहती है । उनमे प्रत्येक स्थान मे निरन्तर सघर्ष, एकत्रीकरण और विश्लेषण होता रहता है । आधुनिक ज्योतिषी इन्ही वस्तुओ को, उनकी गति-विधियो को, जो अपने अशो को अनुप्राणित करती है, और उनके सपूर्ण साम-

जस्य को, सौर-मडल की उत्पत्ति का कारण बताते है। आगे चलकर यह भी हो सकता है कि पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण इन्ही सूक्ष्म वस्तुओ की अश्रृखल और असवद्ध गतिविधियो का (अणुओ के कम्पन का, जो सव दिशाओ मे व्यक्त होता है) परिणाम समझा जाय। इस प्रकार केन्द्र, शक्ति का उद्गम-स्थान, जो आरम्भ मे पृथिवी से सूर्य तक स्थानान्तरित हुआ था, अब विकीर्ण और विस्तृत मालूम पडता है। यह सर्वत्र है, और किसी एक खास जगह मे नही है। ज्योतिष-शास्त्र के द्वारा हम यह देखते है कि सौर-मडल की रचना अत्यत सूक्ष्म वस्तुओ को लेकर होती है, जिस शक्ति द्वारा सौर-मडल का नियमन होता है, वह शक्ति स्वय इन्ही सूक्ष्म वस्तुओ के समुदायों मे सघर्ष होते रहने का परिणाम है। नक्षत्र-मडल मे सामजस्य इसलिए बना रहता है कि यह एक योजना है, उन असख्य गतियो का परिणाम है, जो परस्पर एकत्र, पूर्ण और साम्यभाव धारण करती रहती है।

इस नवीन भावना के साथ-साथ विश्व का सपूर्ण स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है। ससार पर किसी शक्ति द्वारा शासन होने की धारणा, पूर्व-निश्चित नियम तथा पूर्व-निश्चित सामजस्य, लुप्त हो जाते है, और उनका स्थान ग्रहण कर लेता है वह सामजस्य, जिसका आभास फोरिये को मिला था, और जो असख्य वस्तुओ की विश्रृखल और असवद्ध गतियो का परिणाम है। इन असख्य वस्तुओ मे प्रत्येक की गति पृथक्-पृथक् है और वे सब एक-दूसरे के साथ सामजस्य रखती है।

केवल ज्योतिष-शास्त्र मे ही यह परिवर्त्तन हो रहा हो, सो बात नही। समस्त शास्त्रो के सिद्धात मे विना किसी अपवाद के यह परिवर्तन हो रहा है, चाहे वे शास्त्र प्रकृति के अध्ययन से सबध रखते हो, या मानव-अध्ययन से।

भौतिक विज्ञान मे ताप, चुम्बक-शक्ति और विद्युत की सत्ता लुप्त हो जाती है। इन दिनो यदि कोई जडवादी उत्तप्त या विद्युन्मय शरीर के सम्बन्ध मे कुछ कहता है तो वह इनमे किसी अचेतन समह को नही देखता, जिसमे किसी अज्ञात शक्ति को जोड़ने की आवश्यकता हो। वह इस शरीर मे और

उसके चतुर्दिक स्थान मे उन अत्यत छोटे-छोटे अणु-परमाणुओ की गति और कम्पन को जानने का प्रयत्न करता है, जो सव दिशाओ मे प्रचड वेग से दौडते रहते है, जिनमे स्पदन, गति और जीवन होता है, और जो अपने स्पदन, आघात और जीवन से उष्मा, प्रकाश, चुम्बक या विद्युत उत्पन्न करते है। सेन्द्रिय जीवन (Organic Life) से सबध रखनेवाले विज्ञान मे जाति और उसके विभिन्न रूपो की भावना का स्थान व्यक्ति के विभिन्न रूपो की भावना ग्रहण कर रही है। वनस्पति शास्त्रवेत्ता और जन्तुविद्याविद् व्यक्ति का, उसके जीवन का तथा उसने अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने को जो बना लिया है, उसका अध्ययन करते है। शुष्कता या आर्द्रता, सर्दी या गर्मी, पोषण की प्रचुरता या दरिद्रता, तथा बाह्य परिस्थिति की क्रिया के प्रति उसकी जो न्यूनाधिक सवेदनशीलता होती है और उसकी प्रक्रिया से उसमे जो परिवर्त्तन उत्पन्न होते है, उनसे जातियो की उत्पत्ति होती है, और जातियो के परिवर्त्तन इस समय जीवशास्त्रवेत्ता के लिए परिणाम-मात्र है—प्रत्येक व्यक्ति मे पृथक्-पृथक् जो परिवर्त्तन हुए है, उसीकी समष्टि है। व्यक्ति के अनुसार ही जाति होगी। व्यक्तियो के ऊपर उनकी परिस्थिति का, जिन परिस्थितियो मे वे रहते है, असख्य प्रभाव पडता है और उनमे से प्रत्येक अपने-अपने ग से अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपनेको बनाता है।

इस समय जब कोई शरीर-शास्त्रवेत्ता किसी वृक्ष या प्राणी के जीवन के सम्बन्ध मे कुछ कहता है तो उसका लक्ष्य किसी एक अदृश्य व्यक्ति पर न होकर एक समुदाय पर, असख्य पृथक्-पृथक् व्यक्तियो की जीव-समष्टि पर, होता है। वह अग्निवर्द्धक, विषयपरायण स्नायविक इन्द्रियो के सघ की चर्चा करता है, जो आपस मे एक-दूसरे से घनिष्ठता से मिली हुई है और एक-दूसरे की कुशलता या अकुशलता का परिणाम अनुभव करती है, किन्तु प्रत्येक का अपना जीवन अलग-अलग होता है। अवयवो के प्रत्येक भाग की रचना स्वतन्त्र क्षुद्र कोषो द्वारा हुई है, जो आपस मे मिलकर अपने अस्तित्व के प्रतिकूल दशाओ के विरुद्ध सग्राम करते है। व्यक्ति भी सघो का एक विश्व है, बल्कि यो कहना चाहिए कि वह स्वय एक सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माड है।

समष्टिभूत प्राणियो के इस विश्व मे शरीर-शास्त्रवेत्ता को स्नायु-केन्द्र, मास-तन्तु और रक्त के स्वतन्त्र कोष दीख पडते है। वह उन असख्य श्वेत रक्त-कणो को पहचानता है, जो जीवाणुओ से सक्रान्त शरीर के अगो में आक्रमणकारियो के साथ युद्ध करने के लिए प्रवेश करते है। इतना ही नही, वल्कि आधुनिक काल मे उसे सूक्ष्म कोप मे स्वतन्त्र अवयव देख पडते है, जिनमे प्रत्येक का अपना पृथक् जीवन होता है जो स्वय अपने अस्तित्व पर दृष्टि रखता है और दूसरो के साथ मिलकर तथा समूह वनाकर उसे प्राप्त करता है।

सक्षेप मे हम यो कह सकते ह कि प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियो का विश्व है, प्रत्येक इन्द्रिय कोषो का विश्व है और प्रत्येक कोष अत्यन्त छोटे-छोटे कोषो का विश्व है; और इस जटिल विश्व मे समग्र की कुशलता प्रत्येक सूक्ष्मतम अणु की कुशलता की समष्टि पर सम्पूर्णतया निर्भर करती है। इस प्रकार जीवन के सिद्धान्त मे ही सम्पूर्ण क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, 'किन्तु खासकर मनोविज्ञान मे ही यह क्रान्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करती है।

अभी हाल तक मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य को एक सम्पूर्ण अविभाज्य प्राणी वताया करते थे। धार्मिक परम्परा के प्रति सत्यनिष्ठ रहते हुए, वे मनुष्यो को भला और वुरा, वुद्धिमान और मूर्ख, स्वार्थी और परोपकारी की श्रेणी मे गिना करते थे। अठारहवी शताव्दी के जडवादी भी आत्मा की तथा उसके अविभाज्य अस्तित्व की सत्ता मानते थे।

किन्तु इस समय यदि कोई मनोविज्ञानवेत्ता इस तरह की वाते करे, तो उसके सम्वन्व मे हम क्या कहेंगे ? आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता मनुष्य में पृथक् गुणो तथा स्वतन्त्र प्रवृत्तियो का समूह पाता है, जो आपस मे एक समान होती है, अपना कार्य स्वतन्त्र रूप में करती है, परस्पर साम्यभाव रखती है और वरावर एक-दूसरे का विरोध करती रहती है। समष्टि रूप मे मनुष्य अपनी योग्यताओ का, अपनी सम्पूर्ण प्रवृत्तियो, मस्तिष्क-कोषो और स्नायु-केन्द्रो का परिणाम-मात्र है, जो परिणाम सदा परिवर्त्तनशील होता है। ये सव

एक-दूसरे के साथ इस प्रकार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है कि उनमे प्रत्येक की प्रतिक्रिया अन्य सवो पर होती रहती है, किन्तु उनका अपना पृथक् जीवन होता है, और वे किसी केन्द्रीय—अवयव—आत्मा के अधीनस्थ नही होते।

इस प्रकार आप देखेगे कि इस समय सम्पूर्ण प्रकृति-विज्ञान मे एक गम्भीर परिवर्त्तन हो रहा है। यह वात नही है कि इस समय छोटी-छोटी वातो तक का विश्लेषण हो रहा है, जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी। नही ! ये तथ्य कुछ नए नही है, किन्तु उनपर विचार करने की प्रणाली का इस समय क्रम-विकास हो रहा है। यदि हमे कुछ शब्दो मे इस प्रवृत्ति का लक्षण वताना हो तो हम कह सकते है कि यदि पूर्वकाल मे विज्ञान ने परिणामो और वडे-वडे अको का अध्ययन करने का प्रयत्न किया था, तो इस समय वह अत्यत छोटे-छोटे अको के अध्ययन का प्रयत्न करता है, जिसके जोड से उन अको की रचना हुई है और जिसमे वह इस अतरग समष्टि के साथ-साथ स्वतत्रता और व्यक्तित्व पाता है।

मानवी वुद्धि को प्रकृति मे जो सामजस्य दीख पडता है, और जो सामजस्य दृश्यो की स्थिरता का प्रतिपादन-मात्र है, उसे आधुनिक वैज्ञानिक इस समय जितना अधिक समझ रहा है, उतना पहले उसने कभी नही समझा था, किन्तु अव आधुनिक वैज्ञानिक उसकी व्याख्या करते हुए यह नही कहता कि यह सामजस्य किसी वुद्धिमान आदमी ने किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार निश्चित किया है।

जिसे लोग 'प्राकृतिक नियम' कहा करते थे, वह घटनाओ के वीच एक निश्चित सवध के सिवा और कुछ नही है, जिस सवध को हम क्षीण-रूप मे देखते है, और प्रत्येक 'नियम' कारण-सवधी घटना का 'अस्थायी रूप' धारण करता है, अर्थात्—यदि अमुक दशाओ मे अमुक घटना हो, तो उसके परिणाम-स्वरूप अमुक घटना होगी। घटना से वाहर कोई भी नियम नही है—प्रत्येक घटना अपनी परवर्त्ती घटना पर नियमन करती है, किसी नियम पर नही।

जिसे हम प्रकृति का सामजस्य कहते है, उसमे कोई भी वात पूर्व-कल्पित नही होती। सघर्ष और सग्राम की भावना इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त

है। इस प्रकार की घटना शताब्दियो तक वर्त्तमान रहेगी, क्योकि जिस योजना की, साम्यावस्था की यह द्योतक है, उसे स्थापित होने मे शताब्दिया लगी है; किन्तु इस प्रकार की कोई दूसरी घटना एक क्षण से भी अधिक नही ठहरेगी, यदि उस प्रकार का क्षणस्थायी साम्य एक क्षण मे ही उत्पन्न हुआ होगा। हमारे सौर-मडल के ग्रह यदि प्रतिदिन आपस मे टकराते नही, न एक-दूसरे को नष्ट करते है, और लाखो वर्ष तक कायम रहते है, तो इसका कारण यह है कि वे उस साम्यावस्था का निदर्शन करते है, जिसे असख्य अन्ध-शक्तियो के परिणामस्वरूप स्थापित होने मे लाखो शताब्दिया लग गई है। ज्वालामुखी के आघातो से यदि महादेशो का निरन्तर ध्वस नही होता रहता है, तो इसका कारण यह है कि एक-एक कण को लेकर उनकी रचना मे हजारो शताब्दिया लग गई है, तव वे अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुए है। किन्तु विजली एक क्षण के लिए ही स्थायी होगी, क्योकि यह साम्यावस्था के क्षणिक भेद का—शक्ति के आकस्मिक पुनर्वितरण का—निदर्शन है।

इस प्रकार सामजस्य एक क्षणस्थायी समाधान के रूप मे प्रतीत होता है, जो समस्त शक्तियो के वीच स्थापित हो चुका है और जो एक सामयिक योजना-मात्र है। और यह योजना केवल एक शर्त्त पर ही रह सकती है। वह शर्त्त है इसमे निरन्तर परिवर्त्तन होते रहना। परस्पर-विरोधी क्रियाओ के परिणाम का वह प्रतिक्षण निदर्शन करती है। इनमे किसी भी एक शक्ति की क्रिया मे वाधा पडने से सामजस्य लुप्त हो जाता है। शक्ति अपने परिणाम को सचित करेगी, उसे प्रकाश मे आना ही पडेगा, वह अपनी क्रिया का अवश्य प्रयोग करेगी, और यदि अन्य शक्तियां इसकी अभिव्यक्ति में वाधा पहुचायगी तो इससे उसका लोप नही होगा, वल्कि वर्त्तमान व्यवस्था को उलट-पलट करके तथा सामजस्य नष्ट करके एक नए प्रकार की साम्यावस्था ढूढ निकालने और एक नवीन योजना की रचना के लिए कार्य करने मे उसका अन्त हो जायगा। ज्वालामुखी का विस्फोट इसी रूप मे होता है। ज्वालामुखी की रुकी हुई शक्ति स्तम्भित लावाओ को भंग करके—जिनके कारण वह अपने गैस को, लावा को, तापोज्ज्वल

भस्म को, बाहर नही फेक सकती थी—नष्ट हो जाती है। मानव-समाज की क्रान्तिया भी इसी तरह की होती है।

मानव-समाज से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान मे भी इसके साथ-ही-साथ समान रूप मे रूपान्तर हो रहा है। इस प्रकार हम देखते है कि इतिहास राज्यो का इतिहास होने के बाद राष्ट्रो का और फिर इसके बाद व्यक्तियो के अध्ययन का इतिहास बन जाता है। इतिहासकार यह जानना चाहता है कि राष्ट्र किस प्रकार के मनुष्यो द्वारा गठित हुआ था, उनका रहन-सहन कैसा था, उनके विश्वास क्या थे, उनकी जीविका के साधन क्या थे, समाज का कौन-सा आदर्श उनके सामने परिलक्षित था और उक्त आदर्श तक पहुचने के लिए उनके पास साधन क्या थे? और इनसब शक्तियो की क्रिया से, जिनकी पहले उपेक्षा की गई थी, वह महान् ऐतिहासिक घटना की व्याख्या करता है।

इसी प्रकार वह विज्ञानवेत्ता, जो व्यवस्था-शास्त्र का अध्ययन करता है, अब किसी विधिबद्ध विधान से सन्तुष्ट नही होता। मानव-जाति-विज्ञान-वेत्ता के समान वह उन सस्थाओ का मूल कारण जानना चाहता है, जो एक के बाद दूसरी स्थापित होती है। वह युग-युगान्तर के उनके क्रम-विकास का अनुगमन करता है, और इस अध्ययन मे वह स्थानीय रीति-नीति, रस्म-रिवाज-सम्बन्धी कानून—जिसके द्वारा अज्ञात जनता की रचनात्मक प्रतिभा सब काल मे प्रकट हुई है—और इन रीति-रिवाजो की अपेक्षा लिखित कानून पर बहुत कम ध्यान देता है। इस दिशा मे एक सम्पूर्ण नूतन विज्ञान का सम्पादन हो रहा है। यह विज्ञान अबतक की निश्चित भावनाओ को, जिन्हे हमने स्कूल मे ग्रहण किया था, उलट-पलट देगा और इतिहास की उसी रूप मे व्याख्या करेगा, जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक घटनाओ की व्याख्या किया करता है।

अर्थशास्त्र, जो प्रारम्भ मे राष्ट्रो के धन का अध्ययन समझा जाता था, इस समय व्यक्तियो के धन का अध्ययन बन गया है। वह इस बात के जानने की कम चिन्ता करता है कि अमुक राष्ट्र का विदेशी वाणिज्य विस्तृत है

या नहीं, वह इस बात का आश्वासन चाहता है कि किसान या श्रमजीवी की झोपडी मे रोटी का अभाव तो नही है। वह प्रत्येक द्वार पर जाता है, चाहे वह राज-प्रासाद हो, या गरीब की कुटिया, और वह धनी तथा दरिद्र दोनो से प्रश्न करता है—आपके प्रयोजन और विलास-सम्बन्धी आवश्यकताओ की कहा तक पूर्ति हुई है ?

जब वह यह देखता है कि प्रत्येक राष्ट्र के अधिकाश लोगो की अत्यन्त जरूरी आवश्यकताए पूर्ण नही होती तो वह अपने-आपसे उसी प्रकार प्रश्न करने लगता है, जिस प्रकार एक शरीर शास्त्रवेत्ता किसी पौधे या पशु के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है—"ऐसे कौन-से उपाय है, जिनसे सब लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति हो और साथ ही शक्ति का कम-से-कम क्षय हो ? समाज किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को और फलत सब लोगो को अधिक-से-अधिक सन्तोष की गारटी दे सकता है ?" अर्थ-विज्ञान का रूपान्तर इसी दिशा मे हो रहा है, और अबतक एक साधारण घटना के रूप मे, जिसका अर्थ अल्पसख्यक धनी सम्प्रदाय के स्वार्थ के लिए किया जाता था, रहकर यह एक वास्तविक विज्ञान—मानव-समाज का शरीर-शास्त्र—बनता जा रहा है।

इस प्रकार जबकि एक नवीन दर्शन का, ज्ञान के एक नवीन दृष्टिकोण का, सृजन हो रहा है, हम यह देख सकते है कि समाज के सम्बन्ध मे एक विभिन्न धारणा—प्रचलित धारणा से सर्वथा विभिन्न—इस समय निर्मित हो रही है। अराजकता के नाम पर समाज के अतीत और वर्त्तमान जीवन की एक नवीन व्याख्या की जा रही है, और इसके साथ-साथ हमे उसके भविष्य के सम्बन्ध मे भी पूर्वाभास मिलता है। भूत और भविष्य दोनो का अर्थ उसी भावना से किया जाता है, जो प्राकृतिक विज्ञान की उपर्युक्त व्याख्या मे प्रकट हुई है। अतएव अराजकता एक नवीन दर्शन-शास्त्र के उपादान के रूप मे प्रतीत होती है, और यही कारण है कि अराजकवादियो का आधुनिक समय के महान् विचारशील विद्वानो और कवियो के साथ अनेक विषयो के सम्बन्ध मे सम्पर्क होता रहता है।

असल बात तो यह है कि जिस मात्रा मे मानवीय बुद्धि अल्पसख्यक पुरोहित, सेनापति और जजो के—जो सब अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्न करते है और जिस प्रभुत्व को वेतनभोगी वैज्ञानिकों द्वारा स्थायी बनाने की कोशिश की जाती है—भावो से अपनेको मुक्त कर पाती है, उसी मात्रा मे समाज की एक ऐसी धारणा उत्पन्न होती है, जिसमे इन शासक अल्प-सम्प्रदायो के लिए कोई स्थान ही नही रह जाता। इस प्रकार का समाज पहले की पीढियो के परिश्रम से सचित सामाजिक पूजी पर अपना अधिकार जमाता है, अपना सगठन इस प्रकार करता है, जिससे इस पूजी का उपयोग सबके स्वार्थो के लिए हो, और शासक अल्प-सम्प्रदायो के अधिकार को पुनर्स्थापित किये विना अपने को स्थापित करता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की क्षमताओ, मानव-प्रकृतियो और व्यक्तिगत शक्तियो का समावेश होता है। यह किसीको भी अपने वहिर्गत नही रखता। यह सग्राम और विवाद के लिए भी आह्वान करता है, क्योकि हम यह जानते है कि विवाद के समय मे, जवतक स्वतन्त्रतापूर्वक यह विवाद होता रहा और अधिकारियो ने किसीका पक्ष ग्रहण नही किया, मानव-प्रतिभा की उच्चतम उडान हुई, और इससे महान् उद्देश्य सिद्ध हुए थे। अतीत की सचित निधि मे समाज के सब लोगो के समान अधिकार को एक तथ्य के रूप मे स्वीकार करते हुए यह शासक और शासितो मे, प्रभुत्व करनेवाले और जिन लोगो पर प्रभुत्व किया जाता है उनमे, तथा शोषण करनेवाले और जिनका शोषण किया जाता है उनमे, कोई भेद नही मानता, और अपने बीच एक प्रकार की सामजस्यपूर्ण सुसगति स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न मनुष्यो को किसी प्रभुत्व के अधीनस्थ करने के लिए नही होता, जो प्रभुत्व मिथ्या रूप मे समाज का प्रतिनिधि मान लिया जाता है और न एकरूपता स्थापित करने के लिए होता है, वल्कि सब लोगो को स्वतन्त्र रूप मे विचार करने, स्वतन्त्र रूप मे कार्य करने और स्वतन्त्र रूप मे मिलने-जुलने के लिए उत्प्रेरित करने के लिए होता है।

यह व्यक्तित्व का चरम विकास चाहता है, और इसके साथ ही यह भी

चाहता है कि व्यक्ति के स्वेच्छा-सम्मिलन का उसके सब रूपो मे, सब मात्राओ मे और समस्त कल्पनीय उद्देश्यो के लिए उच्चतम विकास हो। इस प्रकार के सम्मिलनो मे निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है; किन्तु उनके साथ स्थायित्व के उपादान भी रहते है, और वे निरन्तर नवीन रूप धारण करते रहते है, जो सब लोगो की बहुसख्यक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए उपयुक्त होते है ।

ऐसे समाज मे, जिसे पूर्वनिश्चित कानून द्वारा स्थायी आकार धारण करनेवाले नियम अप्रीतिकर मालूम पडते है, और जो विभिन्न शक्तियो तथा प्रत्येक प्रकार के प्रभावो के बीच परिवर्तनशील और नैमित्तिक साम्य मे सामजस्य की खोज करता है, ये शक्तिया मनुष्य के पराक्रम को अग्रसर करती है और ये शक्तिया प्रगति के मार्ग मे तथा स्वच्छ प्रकाश मे अपनेको स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित करने और एक-दूसरे के भार मे समता कायम रखने मे अनुकूल सिद्ध होती है ।

आदर्श समाज की यह भावना नई नही है। इसके विपरीत जब हम लोकप्रिय सस्थाओ—जैसे फिरके, ग्राम-समाज, पेशो के सघ—और मध्य-युग की प्रथम अवस्था के नगर-समाज के इतिहास का विश्लेपण करते है, तो हमे इस भावना के अनुसार समाज के गठन के लिए वही लोकप्रिय प्रवृत्ति दीख पडती है। यह प्रवृत्ति स्वेच्छाचारी अल्पसख्यको द्वारा बराबर शृखलित होती रहती है। सभी लोकप्रिय आन्दोलनो पर इसकी छाप न्यूनाधिक रूप मे लगी हुई थी। नवी शताब्दी मे हम इन्ही भावो को धार्मिक भाषा मे, जो उस समय प्रचलित थी, स्पष्ट रूप मे व्यक्त पाते है। दुर्भाग्यवश पिछली शताब्दी के अन्त तक यह आदर्श धार्मिक भावना से कलुषित बना रहा। अब आधुनिक काल मे समाज की भावना, जो सामाजिक घटनाओ के निरीक्षण से निश्चित हुई है, अपने आच्छादन से मुक्त हुई है ।

इस आधुनिक समय मे ही समाज का यह आदर्श, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने-आप पर शासन करता है, आर्थिक, राजनैतिक और नैतिक पहलुओ मे एक-साथ ही दृढ हुआ है। यह आदर्श समष्टिवाद की

आवश्यकता के आधार पर हमारे सामने उपस्थित होता है, जो हमारे आधुनिक समाज पर उसके वर्त्तमान स्वरूप और उत्पादन द्वारा लाद दिया गया है ।

वास्तव मे आज हम इस बात को अच्छी तरह जान गए है कि जबतक आर्थिक दासता कायम है, तबतक स्वतन्त्रता की चर्चा करना व्यर्थ है । "स्वाधीनता की चर्चा मत करो, दरिद्रता ही दासता है,"—व्यर्थ का सिद्धान्त नही है, यह सिद्धान्त श्रमजीवी श्रेणी की जनता के भावो मे प्रवेश कर गया है, यह समूचे वर्त्तमान साहित्य से छन-छनकर निकल रहा है । यह उन लोगो को भी अपने साथ बहाये लिये जाता है, जो दूसरो की दरिद्रता पर जीवन धारण करते है, और यह उनकी उस शेखी को भी दूर करता है, जिसके बल पर पहले वे शोषण करने के अपने अधिकार का दावा करते थे ।

सारे ससार के लाखो साम्यवादी इस वात से सहमत है कि पूजी-पतियो के सामाजिक दोहन का वत्तमान रूप बहुत दिनो तक कायम नही रह सकता । पूजीपति स्वय इस बात को महसूस कर रहे है कि पूजीवाद का अन्त होना ही चाहिए, इसीलिए वे पहले के समान इसका समर्थन करने का साहस नही कर सकते । अव उनका एकमात्र तर्क, जो हमारे सामने पेश किया जाता है, यही है—"तुमने इससे अच्छी किसी चीज का आविष्कार नही किया है ।" किन्तु सम्पत्ति के वर्त्तमान रूप के घातक परिणामो को वे अस्वीकार नही कर सकते, और न सम्पत्ति पर अपने अधिकार का औचित्य ही सिद्ध कर सकते है । जबतक उन्हे कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलेगी, तवतक वे इस अधिकार का उपयोग करेंगे, किन्तु वे किसी भावना के आधार पर इसे अवस्थित करने का प्रयत्न नही करेंगे । यह सहज ही समझा जा सकता है ।

उदाहरण के लिए पेरिस शहर को लीजिये । कितनी ही शताब्दियों मे इसका निर्माण हुआ है । यह समग्र राष्ट्र की प्रतिभा का फल है । बीस या तीस पीढियो के परिश्रम का परिणाम है । इस नगर के श्रमजीवी निवासी इसे सुसज्जित करनें, परिष्कृत करने, इसका पोषण करने तथा इसे विचार

और कला का केन्द्र वनाने के लिए प्रतिदिन परिश्रम करते है। ऐसे किसी निवासी के सामने कोई दावे के साथ यह कैसे कह सकता है कि पेरिस की सडको को सुशोभित करनेवाले राजप्रासाद न्यायत उन लोगो के ही है जो आज कानूनन उनके मालिक बने बैठे है, जबकि वे सव मिलकर उन प्रासादो को मूल्यवान वनाते है और विना उनके उनका मूल्य कुछ भी नहीं रह जायगा ?

जनता के जो उपदेशक है, उनके कौशल से इस प्रकार की मिथ्या भावना कुछ समय तक कायम रखी जा सकती है। श्रमजीवियो का वृहत समुदाय इस सम्वन्ध मे ध्यान तक नही देता, लेकिन ज्योही विचारशील लोगो का एक अल्पसख्यक दल इस प्रश्न को लेकर आन्दोलन करने लगेगा और इसे जनता के सामने उपस्थित करने लगेगा, उस समय इसके परिणाम के सम्वन्ध मे कोई सन्देह नही रह जायगा। उस समय लोकमत का यही उत्तर होगा—"लूट द्वारा ही इन्होने यह सव धन सचित कर रखा है।"

इसी प्रकार किसानो को यह क्योकर विश्वास कराया जा सकता है कि मध्यम श्रेणी के लोगो की जो जमीन है, वह उस जमीन के मालिक की है, जिसका उसपर कानूनी दावा है, जवकि एक किसान अपने आस-पास की तीस मील जमीन के हरएक टुकडे का इतिहास हमे वता सकता है ? इसके सिवा उसे इस वात का क्योकर विश्वास कराया जा सकता है कि राष्ट्र के लिए यह लाभप्रद है कि अमुक महाशय अपने उद्यान के लिए कई वीघे जमीन रखे, जवकि उनके पडोसी वहुसख्यक किसान उस जमीन को जोतने के लिए खुशी से तैयार ो जायगे ?

और किसी कारखाने मे काम करनेवाले मजदूर या खान मे काम करनेवाले खनक को यह किस प्रकार यकीन दिलाया जा सकता है कि कारखाना और खान न्यायत उन लोगो की है, जो उनके वर्त्तमान मालिक है, जवकि मजदूर और खनक सरकार के उस कलक, घूसखोरी, लूट-खसोट और कानून-सगत चोरी को साफ-साफ देख रहे है, जिनकी वदौलत वड़ी-वडी व्यापारिक और औद्योगिक सम्पत्ति अर्जित की जाती है ?

असल बात तो यह है कि जनता ने अर्थशास्त्रियो द्वारा दिखाये गए कुतर्को मे कभी विश्वास किया ही नही । इस प्रकार के कुतर्क इसलिए ही उपस्थित किये जाते है कि उनसे शोषणकर्त्ताओ के अधिकारो की पुष्टि हो, न कि जिनका शोषण हो रहा है, उनके मत मे परिवर्त्तन हो। किसान और श्रमजीवियो ने दु ख से उत्पीडित तथा धनिक श्रेणी के समर्थन से वचित होने के कारण वस्तु-स्थिति को ज्यो-का-त्यो छोड दिया, सिवा इसके कि उन्होने समय-समय पर विद्रोह द्वारा अपने अधिकारो का दृढतापूर्वक समर्थन किया है । और यदि श्रमजीवियो ने कभी यह सोचा हो कि एक दिन ऐसा आवेगा, जब पूजी पर व्यक्तिगत अधिकार होने से सब लोगो को लाभ होगा और उसे धनागार मे परिणत करके सब लोग उसके भागी होगे, तो उनका यह भ्रम अन्य बहुत-से भ्रमो के समान ही नष्ट हो रहा है । श्रमजीवी इस बात को महसूस कर रहे है कि वे अपने उत्तराधिकार से च्युत कर दिये गए है और तबतक च्युत बने रहेगे, जबतक वे अपने मालिको की सम्पत्ति का—जो सम्पत्ति उनके प्रयत्नो से अर्जित की गई है—छोटे-से-छोटा भाग हडताल या विद्रोह करके छीन न ले । इसका अर्थ यह है कि अपने मालिक की सम्पत्ति का वह थोडा-सा भाग प्राप्त करने के लिए उन्हे गोली की वर्षा नही तो क्षुधा की यन्त्रणा तो अपने ऊपर लेनी ही पडेगी और कैद का सामना करना पडेगा ।

किन्तु वर्त्तमान प्रथा की एक और बहुत बडी बुराई अधिकाधिक रूप मे प्रकट हो रही है और वह यह कि सम्पत्ति पर कुछ व्यक्तियो का अधिकार होने से जीवन के लिए और उत्पादन के लिए जो सब वस्तुए आवश्यक है—जमीनं, घर, भोजन और औजार—वे चन्द आदमियो के हाथ मे एक बार चले जाने से, उन प्रयोजनीय वस्तुओ के उत्पादन मे, जिनसे सब लोगो का कल्याण होता है, बराबर बाधा पहुचती रहेगी । श्रमजीवी स्पष्ट रूप मे यह अनुभव करता है कि हमारी वर्त्तमान औद्योगिक क्षमता सब लोगो को प्रचुर परिमाण मे आवश्यक वस्तुए दे सकती है; लेकिन इसके साथ ही वह यह भी देखता है कि किस प्रकार सरकार और पूजीवाद

की प्रथा सार्वजनिक कल्याण पर विजय प्राप्त करने के मार्ग मे सब तरह से वाधा पहुचा रही है ।

भौतिक समृद्धि के लिए जितना उत्पादन आवश्यक है, उससे अधिक उत्पादन करने की बात तो दूर रही, हम लोग काफी मात्रा मे ही उत्पादन नही कर पाते । जव एक किसान व्यवसायियो के उपवन और उद्यान पर, जिसके चारो ओर जज और घुडसवार पहरा देते है, लालसा-भरी दृष्टि से देखता है, जब वह उन स्थानो को फसल से भरपूर देखने का स्वप्न देखता है, उस समय वह इस बात को जानता है कि इन स्थानो मे खेती करने से उन ग्रामो मे खाद्य पदार्थो की कोई कमी नही रहेगी, जिनके निवासी सूखी रोटियो पर गुजर करते है ।

खान मे काम करनेवाला मजदूर, जिसे मजबूर होकर सप्ताह मे तीन दिन वेकार रहना पडता है, उस लाखो टन कोयले के सम्बन्ध मे सोचता है, जिसे वह खान से निकाल सकता है और जिसकी उसे अपनी गरीब घर-गृहस्थी के लिए सख्त जरूरत है ।

एक मजदूर, जिसका कारखाना वन्द हो जाता है और जो काम की खोज मे गलियो की खाक छानता फिरता है, अपने समान ही ईंट पाथने-वालो को बेकार देखता है, जवकि पेरिस की जनसख्या का एक पचमाश गदी झोपडियो मे रहता है, वह मोचियो को इस वात की शिकायत करते सुनता है कि काम नही है, जबकि वहुसख्यक लोगो को जूते की जरूरत है । इसी प्रकार के और भी कितने ही दृष्टात दिये जा सकते है ।

साराश यह कि कुछ अर्थशास्त्रियो को अत्यधिक उत्पादन पर निवन्ध लिखने और अत्यधिक उत्पादन को प्रत्येक औद्योगिक सकट का कारण वताने मे आनन्द मिलता है; किन्तु यदि उनसे कहा जाय कि फ्रास मे उत्पन्न होनेवाली ऐसी किसी चीज का नाम तो वताइये, जो सम्पूर्ण जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति के अतिरिक्त परिमाण मे उत्पन्न होती हो, तो वे वगले झाकने लगेगे । निश्चय ही यह अनाज नही है, क्योकि देश को वाहर से अनाज मंगाना पडता है । यह शराव भी नही है, किसान वहुत थोड़ी मात्रा

मे शराब पीते हैं। शराब के बदले मे वे फल के आसव का व्यवहार करते हैं और नगर-निवासियो को दूषित वस्तुओ पर सन्तोष करना पडता है। यह घर भी नही हो सकता, क्योकि अब भी लाखो आदमियो को बहुत ही रद्दी झोपडियो मे रहना पडता है, जिनमे केवल एक या दो खिडकिया होती है। यह अच्छी या बुरी पुस्तके भी नही हो सकती, क्योकि ग्रामवासियो के लिए पुस्तके अब भी विलासिता की वस्तु समझी जाती है। सिर्फ एक चीज आवश्यकता से अधिक परिमाण मे उत्पन्न की जाती है, वह है बजट को चट कर जानेवाला व्यक्ति। परन्तु राजनैतिक अर्थशास्त्रियो के व्याख्यानो मे इस प्रकार के वाणिज्य-द्रव्य का जिक्र नही किया जाता, यद्यपि वाणिज्य-द्रव्य के सारे गुण इन व्यक्तियो मे मौजूद होते है, और ये सबसे ऊँची कीमत देनेवाले के हाथ अपनेको बेच डालने के लिए बराबर तैयार रहते है।

जिसे अर्थशास्त्री लोग आवश्यकता से अधिक उत्पादन कहते है, वह उन मजदूरो की क्रय-शक्ति के परे उत्पादन है, जो पूजीवाद और सरकार द्वारा दरिद्र बना दिये गए है। इस प्रकार का आवश्यकता से अधिक उत्पादन वर्तमान धनमूलक उत्पादन का घातक लक्षण है, क्योकि श्रमजीवी अपने वेतन से उन चीजो को खरीद नही सकते, जिन्हे उन्होने उत्पन्न किया है। इसके साथ ही वे उस बेकार जन-समुदाय को परिपुष्ट करते है, जो उनके परिश्रम की कमाई पर जीवन धारण करता है।

वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था का मूल तत्त्व ही यह है कि श्रमजीवी जिस वस्तु को उत्पन्न करता है, उसका वह कभी उपभोग नही कर सकता, और उसकी कमाई पर जिन्दगी बसर करनेवालो की सख्या दिन-दिन बढती ही जाती है। जितना ही जो देश औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील होता है, उतनी ही ऐसे लोगो की सख्या बढती जाती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि देश के उद्योग-धधो को उस दिशा मे प्रवर्तित करना पडता है, जिस दिशा मे सब लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति होने के बदले कुछ थोडे-से लोगो को, एक निश्चित समय मे, अधिक-से-अधिक क्षण-स्थायी लाभ होता हो। कुछ लोगो के पास यदि आवश्यकता से अधिक

वस्तु होगी, तो अवश्य ही यह दूसरो की दरिद्रता पर ही हो सकती है, और चाहे जिस उपाय से अधिकतर सख्या मे लोगो की दुरवस्था कायम रखनी होगी, जिससे ऐसे लोग बने रहे, जो अपनी क्षमता से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओ के कुछ अश में ही अपनेको बेच दे। बिना इसके धन का व्यक्तिगत सचय असम्भव है।

हमारी वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था के ये लक्षण ही उसका मूलतंत्त्व है। विना इन लक्षणो के यह कायम रह ही नही सकती, क्योंकि भूख की ज्वाला से विवश हुए विना कौन ऐसा होगा, जो अपनी श्रमशक्ति को जितना उसमे उत्पन्न करने की क्षमता है, उससे कम मूल्य मे बेचने के लिए तैयार हो जाय ?

और इस व्यवस्था के जो ये विशेष लक्षण है, उनसे ही उसकी बुराई सिद्ध हो जाती है।

जबतक इग्लैण्ड और फ्रास शिल्प और उद्योग-धधो मे सबसे आगे बढे हुए थे और उनके बीच अन्यान्य राष्ट्र औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए थे और जवतक पडोसी राष्ट्र उनका ऊन, उनका सूती माल, उनका रेशम, उनका लोहा तथा यन्त्र और विलासिता के सारे सामान इतने मूल्य पर खरीदा करते थे, जिससे वे अपने इन खरीदारो के धन से मालामाल हो सके, तवतक तो मजदूरो को यह आशा दिलाकर खुश किया जा सकता था कि उन्हे भी लूट के माल मे अधिक-से-अधिक हिस्सा मिलेगा, किन्तु ये दशाए अव लुप्त हो रही है। पिछडे हुए राष्ट्र भी अव सूती कपडा, ऊन, रेशम, कल-पुर्जे और विलासिता के सामान उत्पन्न करने लगे है। कई प्रकार के व्यवसायो मे तो वे आगे भी वढ गये है। वे वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प के अग्रदूतो के साथ केवल सुदूर विदेशो मे ही नही, वल्कि उन अग्रदूतो के अपने देशो मे भी प्रतियोगिता कर रहे है। कुछ वर्षों के अन्दर जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली, अमरीका, रूस और जापान भी महान् उद्योग-प्रधान देश वन गये है। मैक्सिको, इडीज, यहा तक कि सर्विया भी प्रगतिशील हो रहे है, और यदि जापान का अनुकरण करते हुए चीन भी ससार के वाजारो के लिए माल तैयार करने लगे, तो क्या होगा ?

इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक सकट, जो अब बार-बार होने लगे है और जो अधिक समय तक कायम रहते है, बहुत-से व्यवसायो के लिए दीर्घस्थायी बनते जा रहे है ।

वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था के अन्दर सब एक सूत्र मे ग्रथित और सब एक साथ मिले हुए है और सब मिलकर औद्योगिक और व्यवसाय-सम्बन्धी प्रणाली का—जिसके अन्दर हम लोग रह रहे है—पतन अवश्यम्भावी बना रहे है । इस प्रणाली की अवधि अब कुछ वर्षो की ही है—शताब्दियो की नही । इसके लिए अब समय की अपेक्षा है, और जरूरत है इस बात की कि मौका आते ही हम इसपर जोरदार आक्रमण कर दे। आलसी लोग इतिहास का निर्माण नही करते, वे तो उसे सहन करते है ।

इसी कारण सभ्य राष्ट्रो मे शक्तिशाली अल्पसख्यक समुदाय यह माग पेश करता है कि पूर्ववर्ती पीढियो द्वारा सचित समस्त सम्पत्ति समाज को लौटा दी जाय । भूमि, खान, कारखाना, वासगृह और आवागमन के साधनो पर सर्व-साधारण का अधिकार होना चाहिए, यही इन प्रभुत्वशाली दलो का मूलमन्त्र बन गया है । धनी और शक्तिशाली लोगो का प्रिय अस्त्र—दमन—अब विद्रोह की भावना की विजयशील प्रगति को अवरुद्ध करने मे कुछ नही कर सकता । और यदि लाखो श्रमजीवी शक्ति-प्रयोग द्वारा सत्ताधारियो के हाथ से जमीन और कल-कारखाने छीन लेने के लिए बगावत नही कर बैठते है तो विश्वास रखिये कि इसका कारण इच्छा का अभाव नही है । वे अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे है—ऐसे अवसर की, जैसा सन् १८४८ मे उपस्थित हुआ था । उस समय वे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा सहायता प्राप्त करने की आशा से वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था का विध्वस करना आरभ कर देंगे ।

जिन लोगो ने इस विषय का अध्ययन किया है, वे एक मत से इस बात का समर्थन करते है कि समाज समस्त सम्पत्ति पर अपना अधिकार प्राप्त करके सब लोगो को, जहातक उत्पादन का सम्बन्ध है, इस बात का विश्वास दिला सकता है कि प्रतिदिन चार या पाच घ` तक शारीरिक

परिश्रम करने के बदले उन्हे प्रचुर परिमाण मे वस्तुएं मिल सकेगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति बालकपन से ही इस बात को सीख ले कि वह जो भोजन करता है, वह जिस घर मे रहता है, वह जिस पुस्तक को पढता है, आदि चीजे कहा से आई, और यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर ऐसी आदत डाले कि वह अपने मानसिक श्रम के साथ-साथ किसी प्रकार के व्यवसाय मे शारीरिक परिश्रम भी करे, तो समाज सहज ही इस कार्य को पूरा कर सकेगा। इसके सिवा एक बात और भी है, वह यह कि निकट-भविष्य मे चीजो की पैदावार और भी सरल ढग से हो सकेगी। यदि सब लोग मिलकर काम करें, तो सभ्य समाज थोडे परिश्रम से ही कितना पैदा कर सकता है और उसके द्वारा कितने महान् कार्य सम्पादित हो सकते है, इसकी कल्पना करने से ही हम समझ सकते है कि वर्त्तमान स्थिति मे कितनी भयकर क्षति हो रही है। दुर्भाग्यवश उस अध्यात्म-विद्या ने, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र कहा जाता है, परिश्रम की मितव्ययिता पर, जो उसका मूलतत्त्व होना चाहिए, कभी विचार तक नही किया है।

हमारे वर्त्तमान कल-पुर्जे और साधन-सयुक्त साम्यवादी समाज मे धन की सम्भावना मे कोई सन्देह नही रह गया है। सन्देह तभी उत्पन्न होते है, जब विचारणीय प्रश्न यह होता है कि क्या ऐसे समाज का अस्तित्व हो सकता है, जिसमे मनुष्य के कार्य राज्य के नियन्त्रण के अधीन न हो; सार्वजनिक कल्याण के लिए क्या यह आवश्यकता नही है कि यूरोपीय सम्प्रदाय अपनी उस थोडी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान करे, जिसे उसने वर्त्तमान शताब्दी मे इतना अधिक बलिदान करके फिर से प्राप्त किया है? साम्यवादियो मे एक दल का यह विश्वास है कि राज्य की बलिवेदी पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान किये बिना इस प्रकार का परिणाम असम्भव है। दूसरा दल—जिसमे हम लोग शामिल है—इसके विपरीत यह विश्वास करता है कि राज्य को उठा देने, व्यक्ति द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने, स्वतन्त्र समझौता और सम्मिलन करने और बिलकुल स्वतन्त्र सघ द्वारा

ही हम साम्यवाद को प्राप्त कर सकते हैं, जिसका अर्थ है हमारे सामाजिक उत्तराधिकार पर सर्वसाधारण का अधिकार और सम्पत्ति के उत्पादन मे सब लोगो का समान भाग।

यही प्रश्न है, जो इस समय अन्य सब प्रश्नो को गौण बना रहा है। साम्यवाद को इसे अवश्य ही हल करना पडेगा, चाहे इसमे उसके समस्त प्रयत्न भले ही खतरे में पड जाय और उसका बाह्य विकास पगु हो जाय।

अब हम सावधानी के साथ इसका विश्लेषण करेगे।

यदि प्रत्येक साम्यवादी अपने विचारो को पूर्वकाल की ओर ले जाय, तो अवश्य ही उसे वे सब मत्सर याद आ जायगे, जो उस समय उसके मन में उदित हुए थे, जबकि पहले-पहल उसन यह धारणा की थी कि पूजीवादी प्रथा और भूमि तथा धन पर व्यक्तिगत अधिकार—इन दोनो का नष्ट किया जाना आवश्यक हो गया है।

यही भावना आज उस मनुष्य मे उत्पन्न होती है, जो पहले-पहल यह सुनता है कि राज्य, उसके कानून, प्रबन्ध, शासन और केन्द्रीकरण की सम्पूर्ण प्रथा का उच्छेद ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक हो गया है, और एक के बिना दूसरे का उच्छेद असम्भव है। हमारी सम्पूर्ण शिक्षा—जो धर्म और राज्य द्वारा दोनो के स्वार्थो पर ध्यान रखकर दी गई है—इस भावना पर विद्रोह कर बैठती है।

पर क्या इस वजह से उसकी सत्यता मे कुछ कमी आ सकती है? अपनी मुक्ति के लिए हमे कितने ही पक्षपातो की बलि देनी पडी थी। राज्य में विश्वास भी एक प्रकार का पक्षपात है। क्या हम इस मत्सर की बलि न देकर इसे जीवित रखेंगे? यदि मनुष्य अपनी सृष्टि के आदिकाल से ही बराबर समाज मे रहा है, तो राज्य भी सामाजिक जीवन का एक रूप है, और जहातक यूरोप के समाजो का सम्बन्ध है, यह बहुत ही आधुनिक है। राज्यो के स्थापित होने के पूर्व भी हजारो वर्ष तक मनुष्य रहा करते थे। मेसिडोनिया और रोम के साम्राज्य निर्मित होने के पूर्व यूनान और रोम का अस्तित्व था और हम आधुनिक यूरोपवासियो के लिए तो आधुनिक राज्यो

का प्रारम्भ सिर्फ सोलहवी शताब्दी से ही होता है। मध्यकालीन स्वतन्त्र समाज की सम्पूर्ण पराजय हो जाने के बाद ही सैनिक, न्यायकर्त्ता, जमीदार और पूजीपतियो की वह पारस्परिक बीमा कम्पनी कायम हो सकी, जिसे हम राज्य कहते है।

सोलहवी शताब्दी मे ही स्थानीय स्वाधीनता, स्वतन्त्र सम्मिलन एव सगठन और सब प्रकार के स्वाधीन सघो के भावो पर, जिनके वे ही सब अधिकार थे जो इस समय राज्य द्वारा अपहृत हो चुके है, घातक आघात पहुचाया गया था। इसी समय जब धर्म और राजकीय शक्ति के बीच मैत्री हुई और उसने उसी सस्था का अन्त कर डाला, जो सघ के सिद्धान्त पर अवस्थित थी, जिसका अस्तित्व नवी से पन्द्रहवी शताब्दी तक वर्त्तमान था और जिसने यूरोप मे मध्ययुग के स्वतन्त्र नगरो का महान् युग उत्पन्न किया था।

हम उन साधनो को अच्छी तरह जानते है, जिनके द्वारा ईश्वर, जमीदार, पुरोहित, व्यापारी, न्यायकर्त्ता, सैनिक और राजा की इस सस्था ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। सब प्रकार के स्वतन्त्र सघो—ग्राम्य समाज, वणिक्-सघ और भ्रातृ मण्डल—और मध्ययुग के नगरो को नेस्तनाबूद करके ही यह आधिपत्य स्थापित किया गया था। ग्राम्य समाज की भूमि को और वणिक् सघो की सम्पत्ति को जब्त करके ऐसा हुआ था। मनुष्यो के बीच के सभी प्रकार के स्वतन्त्र समझौते को पूर्ण रूप मे कठोरता के साथ रोककर ऐसा किया गया था। धर्म और राज्य ने हत्या, लौहचक्र, फासी के तख्ते और तलवार के बल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इसके बाद वे 'प्रजा' के एक ऐसे असम्बद्ध समूह पर राज्य करने में समर्थ हुए, जिसमे परस्पर किसी प्रकार की प्रत्यक्ष एकता नही थी।

अभी थोड़े दिन हुए, जबसे हमने आपस मे मिलने-जुलने के उस अधिकार को, जिसका किसान और कारीगर लोग मध्ययुग में स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग किया करते थे, संग्राम और विद्रोह द्वारा फिर से जीतना शुरू कर दिया है।

और, अबतक यूरोप मे ऐसी हजारो स्वाधीन सस्थाए स्थापित हो चुकी है, जहा लोग आपस मे मिलकर अध्ययन करते है, शिक्षा देते है, शिल्प, वाणिज्य, विज्ञान, कला, साहित्य आदि की चर्चा करते है, दुर्बलो और असहायो का पोषण करते है, इस प्रकार के शोषण का प्रतिरोध करते है, मनोरजन करते है, गम्भीर कार्य करते है, आत्म-तुष्टि और आत्म-त्याग करते है, और इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कार्य करते है, जिनसे मनुष्य का जीवन क्रियात्मक और चिन्ताशील बनता है। इस प्रकार की समितियो को हम देश के कोने-कोने मे—राजनैतिक, आर्थिक, कलात्मक, बौद्धिक सभी क्षेत्रो मे—स्थापित होते हुए देखते है। इनमे कुछ तो गुलाब के फूल के समान क्षणस्थायी होती है तो कुछ दस-बीस वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाये रहती है। ये सभी—अपने प्रत्येक दल, मडल, शाखा या विभाग की स्वतत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए—परस्पर सघबद्ध होने, अपने मे तथा सीमान्त के बाहर के राष्ट्रो मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न करती है। वे सभ्य मनुष्यो के समस्त जीवन को एक ऐसे जाल से आच्छादित करने की चेष्टा करती है, जिसके फदे एक-दूसरे से सम्बद्ध और बुने हुए होते है। इनकी सख्या कई हजारो तक पहुच चुकी है; उनके अनुयायी लाखो की सख्या मे होगे—यद्यपि अभी पचास वर्ष से भी कम ही हुए होगे, जबकि धर्म और राज्य ने इनमे से इने-गिने का ही अस्तित्व सहन करना आरम्भ किया था—बहुत ही कम का।

इन समितियो ने सब कही राज्य के कार्यों पर दखल जमाना शुरू कर दिया है, और ये एक केन्द्रीभूत राज्य के स्थान पर स्वयसेवको की स्वतत्र क्रिया स्थापित करने का प्रयत्न करती है। इग्लैण्ड मे हम देख रहे है कि चोरी के विरुद्ध रक्षा करने के लिए बीमा कम्पनिया स्थापित हो रही है, समुद्र तट की रक्षा, भूमि की रक्षा के लिए स्वयसेवक-समितिया स्थापित हो रही है, जिन्हे राज्य अपने अगूठे के नीचे रखने का प्रयत्न करता है, जिससे वे जनता पर प्रभुत्व करने की साधन बन जाय, यद्यपि शुरू मे उनका उद्देश्य था बिना सरकारी सहायता के कार्य करना। यदि धर्म और राज्य का हस्त-

क्षेप नही होता, तो स्वतत्र समितियो का अबतक शिक्षा के विशाल क्षेत्र पर भी अधिकार हो गया होता। और, सारी कठिनाइयो के होते हुए भी, इन्होने इस क्षेत्र पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया है और अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डाला भी है।

जब हम इन सस्थाओ की प्रगति को देखते ह, जो राज्य का—जो सब प्रकार से अपने आधिपत्य को कायम रखना चाहता है—अस्तित्व और उसका विरोध होते हुए भी हुई है, और जब हम देखते है कि किस प्रकार ये स्वाधीन सस्थाए सब बातो पर आक्रमण कर रही है और केवल राज्य द्वारा ही उनके विकास मे बाधा पहुच रही है, तो उस समय हम यह मानने के लिए बाध्य होते है कि आधुनिक समाज मे एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है और एक छिपी हुई शक्ति मौजूद है। तब हम अपने-आपसे यह प्रश्न करते है, यदि पाच, दस, या बीस वर्ष बाद—समय की कोई बात नही है—जमीदारो, महाजनो, पुरोहितो, न्यायकर्त्ताओ और सैनिको की एक-दूसरे को सहायता पहुचानेवाली बीमा कम्पनियो को श्रमजीवी लोग विद्रोह करके नष्ट कर देने मे सफल हो जावे; यदि जनता चन्द महीने के लिए अपने भाग्य की मालिक बन जाय, और उस धन पर दखल करले जिसकी उत्पत्ति उसके द्वारा हुई है और स्वत्त्व की दृष्टि से जो धन उसका है, तो क्या वे सचमुच उस खून चूसनेवाले राज्य को फिर से स्थापित करने लगेगे? या वे इसकी अपेक्षा आपस के समझौते और प्रत्येक स्थान की विभिन्न और परिवर्त्तनशील आवश्यकताओ के अनुसार साधारण से लेकर जटिल तक का संगठन करने का प्रयत्न नही करेंगे, जिससे उस धन को वे अपने अधिकार मे कर सके, एक-दूसरे की जीवन-रक्षा की गारटी करे और जीवन के लिए जो आवश्यक हो, उसका उत्पादन करे?

क्या वे वर्त्तमान शताब्दी की सर्वप्रधान प्रवृत्ति, निष्केन्द्रीकरण, स्वराज्य और स्वतत्र इकरारनामे का अनुसरण करेंगे, अथवा वे इस प्रवृत्ति के विरुद्ध चलकर विनष्ट आधिपत्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे?

शिक्षित मनुष्य इस विचार मात्र पर काप उठते है कि कोई दिन ऐसा

भी हो सकता है, जब समाज में न्यायकर्त्ता, पुलिस या जेल के अधिकारी न हो ।

किन्तु साफ बात तो यह है कि क्या आपको इनकी उतनी जरूरत है, जितनी सडी-गली किताबो मे आपको बताई गई है ? और यह ध्यान रहे कि ये पुस्तके उन वैज्ञानिको द्वारा लिखी गई है, जो साधारणत. यह बात तो अच्छी तरह जानते है कि उनसे पहले क्या लिखा गया है, पर जो अधिकाश मे जनता की तथा उसके वर्त्तमान दैनिक जीवन की बिलकुल उपेक्षा करते है ।

यदि हम बिना किसी भय के सिर्फ पेरिस की गलियो मे ही नही, जहा पुलिस के आदमी भरे रहते है, किन्तु खासकर देहाती लोगो के घूमने-फिरने के स्थान मे, जहा कदाचित् ही कोई राहगीर मिलता है, विचरण कर सकते है, तो क्या पुलिस की बदौलत ही हमारी रक्षा होती है ? या ऐसे लोगो के अभाव के कारण, जो हमे लूटना या हमारी हत्या करना पसन्द करते है ? मै उस व्यक्ति की बात नही करता, जो लाखो रुपये अपनी जेब मे डाले घूमता है। इस प्रकार का व्यक्ति ऐसे स्थानो मे भी जल्द लूटा जाता है, जहा पुलिसवालो की सख्या काफी होती है । नही, मै ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में कहता हू, जो आत्म-रक्षा के लिए भय करता है, न कि अपनी थैली के लिए, जिसमे अन्यायोपार्जित सिक्के भरे हुए है । क्या उसका भय वास्तविक है ? इसके सिवा क्या अनुभव ने हमे हाल ही मे यह सिद्ध करके नही दिखा दिया है कि हत्यारे जैक ने लन्दन की पुलिस की आंखो के सामने ही अपने सारे कारनामे किये थे, और वह अपने हत्या-कर्म से तभी बाज आया, जबकि खुद ह्वाइटचेनल की जनता ने उसका पीछा करना शुरू किया ?

अपने साथ रहनेवाले नागरिको के साथ हमारा रोज-रोज का जो सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते है कि वस्तुत न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य बढने नही पाते ? न्यायकर्त्ता, जो सदा खूखार बना रहता है, क्योंकि उसपर कानून का नशा

छाया हुआ है, अभियोग लगानेवाला, पुलिस को खबर देनेवाला, पुलिस के गुप्तचर तथा इसी श्रेणी के और लोग, जो अदालतों के इर्द-गिर्द मडराया करते है और किसी प्रकार अपना पेट पालते है, क्या ये लोग समाज मे व्यापक रूप से दुर्नीति का प्रचार नही करते ? मामलो-मुकदमो की रिपोर्टे पढिये, पर्दे के अन्दर नजर डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतो के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, और तब आपको जो-कुछ मालूम होगा, उससे आपका मन बिलकुल भन्ना उठेगा।

क्या कैदखाने—जो मनुष्य की समस्त इच्छा-शक्ति और चरित्र-शक्ति का नाश कर डालते है, जिनकी चहारदीवारी के भीतर इतने कुकर्म बन्द है, जितने संसार के किसी स्थान मे नही है—हमेशा अपराधो के विश्व-विद्यालय नही रहे है ? क्या न्यायकर्त्ता की अदालत क्रूरता का स्कूल नही है ? इसी प्रकार और भी समझिये।

जब हम यह कहते है कि राज्य और उसके विभिन्न अग उठा दिये जाय, तो हमसे बराबर यही कहा जाता है कि हम ऐसे समाज का स्वप्न देख रहे है, जिसमे हमारी अपेक्षा दरअसल बहुत अच्छे लोगो का वास होगा। किन्तु नही, हजार बार नही। हमारा कहना सिर्फ इतना ही है कि इन सस्थाओ द्वारा मनुष्य को और भी बदतर नही बनने देना चाहिए।

बेन्थम की बहुत पुरानी सलाह का अनुसरण करते हुए यदि आप कानूनी बल-प्रयोग के घातक परिणामो—प्रत्यक्ष और खासकर अप्रत्यक्ष परिणामो—पर विचार करने लग जाय, तो टाल्सटाय के समान, हम सबके समान, आप भी कानूनी बाध्यता के प्रयोग से घृणा करने लग जायगे, और आप कहने लगेगे कि समाज के पास हजारो अन्य साधन है, जिनसे वह समाज-विरोधी कार्यो का प्रतिषेध कर सकता है। यदि आज वह उन साधनो की उपेक्षा कर रहा है, तो इसका कारण यह है कि धर्म और राज्य द्वारा शिक्षा दिये जाने के कारण हमारी भीरुता और उदासीनता की भावना हम इस विषय को स्पष्ट रूप से नही देखने देती। जब कोई बालक अपराध करता है, तो उसे दण्ड देना कितना सहज होता है; इसमें किसी प्रकार के

वाद-विवाद के लिए स्थान ही नही होता ! एक मनुष्य को फासी पर लटका देना भी कितना आसान है—खासकर जव जल्लाद मौजूद है, जिसे प्रत्येक फासी के लिए एक निश्चित रकम दी जाती है—और इससे हमे अपराधो के कारण पर विचार करने से छुटकारा मिल जाता है ।

यह अक्सर कहा जाता है कि अराजकवादी भावी स्वप्नलोक मे विचरण करते है, और वर्त्तमान घटनाओ पर दृष्टि नही देते । किन्तु बात यह है कि हम इन घटनाओ को खूब अच्छी तरह देखते है और उनके असली रूप मे देखते है, और यही कारण है कि हम अपने चारो तरफ के पक्षपातरूपी जंगल मे कुल्हाडा लेकर चलते है ।

कल्पना-राज्य में विचरण करना तथा मनुष्यो को वे जैसे है, उससे अच्छा समझना तो दूर रहा, हम उन्हे वास्तविक रूप मे देखते है, और यही कारण है कि हम दृढतापूर्वक यह कहते है कि अच्छे-से-अच्छे मनुष्य भी प्रभुता के प्रयोग से दरअसल खराव बना दिये जाते है । 'शक्ति-सतुलन' और 'अधिकारियों पर नियन्त्रण' का सिद्धान्त महज ढोग है, और इसका आविष्कार उन लोगो द्वारा किया गया है, जिन्होने जनता को, जिसे वे तुच्छ दृष्टि से देखते है, यह विश्वास कराने के लिए कि जनता स्वय अपना शासन कर रही है, सत्ता को अपने हाथ मे कर लिया है । हम मनुष्यो को जानते है, और इसीलिए हम उन लोगो से, जो यह खयाल करते है कि विना शासक के मनुष्य एक-दूसरे को निगल जायगा, कहते है कि "आप उस राजा की तरह तर्क करते है, जिसने सीमान्त पर भेज दिये जाने पर पुकारकर कहा—'मेरे विना मेरी दीन प्रजा की क्या दशा होगी' ?"

अहा ! यदि मनुष्य उसी प्रकार का श्रेष्ठ प्राणी होता, जैसाकि प्रभुत्व के उपासक हमे वताना पसन्द करते है, यदि हम वस्तुस्थिति से अपनी आँखो को मूदकर, उनके समान ही स्वप्न और मायालोक मे अवस्थान करते और यह समझते कि जो अपनेको सत्ताधारी समझते है, वे सचमुच श्रेष्ठ प्राणी है, तो शायद हम भी उनके समान ही आचरण करते और शासको के विशेष गुणो मे विश्वास करते ।

यदि सत्ताधारी सज्जन सचमुच इतने बुद्धिमान और जनहितैषी होते, जैसेकि उनके प्रशसक उन्हे बताया करते है, तो हम कितनी सुन्दर सरकार और पितृवत् पालन करनेवाले रामराज्य का निर्माण कर सकते ! इस प्रकार के राज्य मे मालिक श्रमजीवी के प्रति अत्याचारी न बनकर उसका पिता बन जाता ! कारखाना आनन्द का प्रासाद बन जाता, और वहा श्रमजीवियो का शारीरिक ह्रास कभी नही होता। न्यायकर्त्ता मे इतनी क्रूरता नही होती कि वह जिस व्यक्ति को जेल भेजता, उसकी स्त्री और बच्चो को वर्षो तक भूख और विपत्ति की ज्वाला मे तपाकर अन्त मे किसी दिन घुल-घुलकर मरने देता। सरकारी वकील अपनी वक्तृत्व शक्ति की करामात दिखाने के अपूर्व सुख के लिए अभियुक्त के सिर का गाहक नही बनता; और न कही हम जेलर या जल्लाद को जज के आदेशानुसार कार्य करते देखते, जिनमे खुद इतना साहस नही होता कि वे अपने ारा दिए गए दण्ड को स्वय कार्य-रूप में परिणत करे।

ओह ! ज्योही हम इस बात को मान लेंगे कि जो लोग शासन करते है, वे श्रेष्ठ श्रेणी के जीव होते है, और साधारण मनुष्यो की दुर्बलताओ का उन्हे कदाचित् ही, या बिलकुल, ज्ञान नही होता, उस समय हम कितने सुन्दर रामराज्य की कल्पना कर सकेगे, कितना मनोहर स्वप्न देख सकेगे ! उस समय इतना ही काफी होगा कि पुरोहिती ढग से वे एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखे, और राष्ट्रीय दुर्घटनाओ का इलाज कागजी घोडे दौडाकर करदें। आश्चर्य की बात तो यह है कि चुनाव के समय उसी साधारण जनसमूह द्वारा उनका मूल्य आका जाता है, जिसे आपस के व्यवहार में वे बिल्कुल मूर्ख समझते है, किन्तु जब उसे (जनसमूह को) अपने मालिको का निर्वाचन करना पडता है, तो उस समय वे साक्षात् ज्ञान की मूर्ति बन जाते हैं।

शासक-वर्ग द्वारा जितने शासन-विज्ञान की कल्पना की गई है, उन सबमे इसी प्रकार की खामखयाली बातें भरी पड़ी हैं; किन्तु हमारा मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान हमें बतला रहा है कि मनुष्य इतना मूर्ख नही है कि वह इस

प्रकार का स्वप्न देखता रह जाय। शासक और शासितो के गुणो का माप करने के लिए हमारे पास दो तुलादड नही है, हम यह जानते हैं कि हम भी दोषशून्य नही हैं, और हममे से अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति भी प्रभुता के प्रयोग से शीघ्र दूषित वन सकते हैं। हम मनुष्यो को, जैसा वह है, उसी रूप में लेते हैं, और यही कारण है कि हम एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य पर शासन किया जाना नापसन्द करते हैं, और अपनी शक्ति भर—शायद वह काफी जोरदार नही है—इस प्रकार के शासन का अन्त कर डालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इसे नष्ट कर देना ही पर्याप्त नही है। हमें यह भी जानना चाहिए कि निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे विचार न करने के कारण ही जनता समस्त क्रान्तियो मे भटकती रही है। विध्वस के वाद पुनर्निर्माण का भार उसने मध्यम-श्रेणी के लोगो के ऊपर छोड दिया, जिन्हें अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने के सम्बन्ध मे यथार्थ धारणा नही थी, और फलत जिन्होने अपने लाभ के लिए शासन का पुनर्गठन किया।

यही कारण है कि अराजकता जब सत्ता के समस्त स्वरूपो का विध्वस करने लगती है, जब यह कानूनो को रद्द कर देने और जिस साधन द्वारा कानून जनता पर लादे जाते हैं, उसे उठा देने के लिए कहती है, जब यह धर्मयाजको की समस्त सस्था को मानने से इन्कार करती है, और आपस मे स्वतत्रता-पूर्वक समझौता करने का उपदेश देती है, तब वह इसके साथ-साथ सामाजिक रीति-रस्म के मूल्यवान अश को कायम रखने और विस्तृत करने का भी प्रयत्न करती है, क्योकि विना इसके कोई भी मानव या पशु-समाज कायम नही रह सकता। अराजकता सिर्फ यही चाहती हैं कि सामाजिक रीति-रस्म चंद लोगों के अधिकार द्वारा कायम न होकर सव लोगो के सम्मिलित कार्य द्वारा कायम रखे जाय।

समाज के लिए समाजतत्रमूलक रीति-रस्म और सस्थाएं अत्यत आवश्यक हैं, सिर्फ इसलिए नही कि इनके द्वारा आर्थिक कठिनाइयो का समाधान होता है, वल्कि इसलिए भी कि ये उन सामाजिक रीति-नीतियो को कायम रखती है, और उन्हे विकसित करती है जिनके द्वारा मनुष्यो का

परस्पर मिलना-जुलना होता है। इनके द्वारा मनुष्यों के बीच इस प्रकार का सबध स्थापित होना चाहिए जिससे व्यक्ति का स्वार्थ समष्टि का स्वार्थ समझा जाय। ऐसा होने से ही मनुष्य आपस मे विभक्त न होकर एक हो सकते है।

जब हम अपने मन मे यह प्रश्न करते है कि मानव या पशु-समाज मे किस उपाय द्वारा एक निश्चित नैतिक सतह कायम रखी जा सकती हैं, उस समय हमे तीन ही उपाय दीख पडते है, समाज विरोधी कार्यो का दमन, नैतिक शिक्षा और पारस्परिक सहायता का अभ्यास। और चूकि ये तीनो परीक्षा की कसौटी पर कसे जा चुके है, इसलिए उनके परिणामो से हम उनके सबध मे विचार कर सकते है।

जहा तक दमन की व्यर्थता का संबध है, यह तो वर्त्तमान समाज की अव्यवस्था और क्राति की आवश्यकता, जिसे हम सब लोग चाहते है या अवश्यभावी समझते है, द्वारा पर्याप्त रूप मे सिद्ध हो रहा है। अर्थनीति के क्षेत्र में जबरदस्ती का परिणाम औद्योगिक दासता आ है, और राजनैतिक क्षेत्र मे इसका परिणाम राज्य की गुलामी। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों में पहले जो सब बधन थे, वे अब विच्छिन्न हो गये है, और राष्ट्र एक केन्द्रीय सत्ता के प्रति आज्ञाकारी प्रजावर्ग के असंबद्ध समूह के सिवा और कुछ नही रह गया है।

बल-प्रयोग की प्रथा ने वर्त्तमान समस्त राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयो की सृष्टि करने मे काफी सहायता ही नही पहुँचाई है, बल्कि समाज की नैतिक सतह को ऊँचा उठाने मे इसने अपनी सपूर्ण असमर्थता का भी प्रमाण दिया है। यह उस नैतिक सतह को भी कायम रखने मे समर्थ नहीं हुई है, जहा तक समाज पहले ही पहुँच चुका था। यदि कोई उपकारी देवदूत हमारी आँखो के सामने उन सब अपराधो को प्रत्यक्ष कर दिखाये जो सभ्य समाज में प्रतिदिन, प्रति मिनट अज्ञान के पर्दे मे, या स्वयं कानून के सरक्षण में ही हुआ करते है, तो समाज उस भयानक अवस्था को जानकर काप उठेगा। सबसे बडे राजनैतिक अपराधो के करनेवाले—जैसे,

नेपोलियन तृतीय, अथवा, सन् १८७१ मे समाजतत्र के पतन के बाद मई महीने के खूनी सप्ताह के अपराधी—बेदाग बच जाते है। शताब्दियों तक दमन-नीति का प्रयोग किया गया है, और यह इतनी बुरी तरह असफल हुई है कि यह हमे एक ऐसी अन्धकारपूर्ण तग गली में ले गई है, जिससे हम तभी बाहर निकल सकते है, जब हमारे एक हाथ में मशाल और दूसरे हाथ मे सत्तात्मक अतीत की सस्थाओ की जड में कुठाराघात करने के लिए कुठार हो।

नैतिक शिक्षा की जो महत्ता है, खासकर उस नैतिक शिक्षा की, जो अज्ञात रूप से समाज के अन्दर फैलती रहती है, और हममे से प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के तथ्यो और घटनाओ पर जो आलोचना करता और भाव प्रकट करता है, उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है उसे हम अवश्य मानते है, किन्तु यह शक्ति एक ही दशा मे समाज के लिए कारगर हो सकती है, और वह यह कि सस्थाओ के आचरण के परिणामस्वरूप जो बहुत-सी परस्पर-विरोधी अनैतिक शिक्षाए उत्पन्न होती है, उनके साथ उसका सघर्ष न हो।

इस प्रकार सघर्ष होने से उसका प्रभाव शून्य या हानिकारक होता है। ईसाई धर्म के नीतिज्ञान को लीजिये, फासी पर लटकनेवाले प्रभु ईसा के नाम पर जो नैतिक उपदेश दिये जाते है, उससे बढकर और किस उपदेश का लोगो के मन पर असर पड सकता था, और ईसा के बलिदान मे जो कवित्व है, सूली देनेवालो को क्षमा कर देने मे जो महत्ता है, उसकी रहस्यमयी शक्ति का कितना प्रभाव पड सकता था ? फिर भी धर्म की अपेक्षा सस्था ही अधिक शक्तिशालिनी सिद्ध हुई। इसके बाद शीघ्र ही ईसाई धर्म, जो साम्राज्यवादी रोम के विरुद्ध एक क्रान्ति था, रोम द्वारा ही विजित हुआ, और ईसाई धर्म ने उसके सिद्धान्त, रीति-नीति और भाषा को ग्रहण कर लिया। ईसाई धर्म ने रोम के कानून को अपना समझकर अपना लिया। इस प्रकार राज्य से मिलकर वह इतिहास मे समस्त अर्द्ध-समाज-तन्त्रवादी सस्थाओ का भयकर शत्रु बन गया, हालाकि आरम्भ मे ईसाई

धर्म इन सस्थाओ का समर्थक था।

क्या एक क्षण के लिए भी हम यह विश्वास कर सकते है कि नैतिक उपदेश मे, जिसका पोषण सार्वजनिक शिक्षा-विभाग के मन्त्रियो के गश्ती-पत्रो मे हुआ करता है, वह सृजन-शक्ति होगी, जो सृजन-शक्ति ईसाई धर्म मे नही थी ? और सच्चे सामाजिक मनुष्यो का मौखिक उपदेश कर ही क्या सकता है, जबकि उसके विरुद्ध सरकारी तथा पूजीपतियो की उन सस्थाओ के उपदेश की प्रतिक्रिया होती रहती है, जिनका आधार समाज-विरोधी सिद्धान्त है ?

अब तीसरी चीज जो बाकी रह जाती है, वह है सस्था, जिसकी क्रिया इस रूप मे हो, जिससे सारे सामाजिक कार्य अभ्यास और सहज-बुद्धि की अवस्था मे हो जाय। यह तीसरा साधन—जैसा कि इतिहास से सिद्ध है—कभी अपने लक्ष्य से विचलित नही हुआ, दुधारी तलवार के रूप मे इसने कभी कार्य नही किया और इसका प्रभाव क्षीण तभी हुआ है जब रीति-रस्म अचल और जडीभूत बनकर धर्म के रूप बन गये, जब उन्होने व्यक्ति से कार्य करने की सारी स्वतत्रता छीनकर उसके व्यक्तित्व को लुप्त कर देने का प्रयत्न किया, और इस प्रकार मनुष्य को उस धर्म के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए विवश किया, जो जडीभूत बन जाने के कारण उन्नति का शत्रु बन गया था।

असल बात तो यह है कि अतीतकाल मे उन्नति का जो मूल तत्त्व था, या मनुष्य जाति की नैतिक और बौद्धिक उन्नति का साधन था, उसका कारण है, पारस्परिक सहायता का अभ्यास और वे रीति-रस्म, जो मनुष्यो की समानता को मानते थे और जिन रीति-रस्मो ने उन्हे उत्पन्न करने तथा खर्च करने के लिए मानव-समाज को एक साथ मिलाकर परस्पर की सहायता के लिए एकता के सूत्र मे ग्रथित कर दिया था, और उन्हे सघबद्ध करके यह बता दिया था कि अपनेमे से नियुक्त किये गए पचो के सिवा और किसी दूसरे जज को वे अपने विवाद का निर्णायक न माने।

प्रत्येक अवसर पर, जब सर्वसाधारण की प्रतिभा से इन सस्थाओ की उत्पत्ति हुई (जब कुछ समय के लिए उक्त प्रतिभा थोडी देर के लिए भी स्वतत्र

हुई हैं) और जब इन संस्थाओ का विकास एक नई दिशा मे हुआ है, तब समाज की नैतिक सतह, उसका भौतिक कल्याण, उसकी स्वतत्रता, उसकी बौद्धिक प्रगति और उसकी मौलिकता एक कदम आगे बढ गई है। इसके विपरीत प्रत्येक अवसर पर इतिहास के पृष्ठो मे यह देखा गया है कि विदेशी विजय से या परम्परा से प्रामाणिक माने जानेवाले पक्षपातपूर्ण विचारो के कारण जब-जब मनुष्य समाज शासक और शासित, धनी और श्रमिक मे अधिकाधिक विभक्त होता गया है, तब-तब समाज की नैतिक सतह मे ह्रास होता गया और जनता की आर्थिक दशा खराब होती गई, जिससे चन्द लोगो के हाथ मे धन इकठ्ठा होगया और युग की भावना पतनोन्मुख होगई।

इतिहास हमें यही शिक्षा देता है, और इस शिक्षा से हमने स्वतत्र समाज-तत्रवादी सस्थाओ मे विश्वास करना सीखा है, जिससे शासन द्वारा अध-पतित समाज का उत्थान हो।

इस समय हम साथ रहते हुए भी एक-दूसरे को नही जानते। हम चुनाव के दिन सभाओ मे एकत्र होते है, उम्मीदवारो के मिथ्या या कल्पित उद्देश्यो को सुनते है और फिर अपने घर वापस लौट जाते है। सार्वजनिक हित से सबध रखनेवाले जितने प्रश्न है, उनकी चिन्ता सरकार को रहती है, यह देखना एकमात्र सरकार का ही काम होता है कि हम अपने पडोसी के स्वार्थ में खलल न पहुँचावे, और यदि सरकार यह काम नही कर सके, तो इस बुराई के प्रतिकार के लिए वह हमे दड दे।

हमारा पडोसी भूख से मर जाय, या वह अपने बच्चो की हत्या कर डाले, इसमे दखल देना हमारा काम नहीं। यह काम पुलिस के आदमियो का है। हम लोग कदाचित ही एक-दूसरे को जानते है। हमे एक करने का कोई साधन नही होता। इसके विपरीत हमें विलग करने के लिए ही सब साधन मौजूद रहते है। और कोई उपाय न देखकर हम सर्वशक्तिमान (पहले यह ईश्वर था, अब सरकार है) से यह याचना करते है कि वह यथाशक्ति समाज-विरोधी दुष्कृत्यो को चरम-सीमा पर पहुँचने से रोके।

समाजतत्रवादी समाज में इस प्रकार का विलगाव, बाह्य शक्ति मे इस

प्रकार का विश्वास, कायम नही रह सकता। समाजतन्त्रवादी सस्थाओ का निर्माण पार्लामेट या म्यूनिसिपैलिटी नामधारी व्यवस्थापिका सभाओ के ऊपर नही छोडा जा सकता। यह काम सपूर्ण समाज का होगा, इसका स्वाभाविक विकास होगा और बृहत् जन-समुदाय की रचनात्मक बुद्धि का यह परिणाम होगा। समाजतन्त्रवाद ऊपर से लादा नही जा सकता। यदि सपूर्ण समाज का अनबरत और दैनिक सहयोग इसे धारण न करे, तो यह चन्द महीनो के लिए भी कायम नही रह सकता। यह स्वतत्र होकर ही रह सकता है।

जनता मे जो हजारो नित्य के साधारण कार्य हुआ करते है, उनके बीच अनवरत सयोग स्थापित किये विना यह कायम नही रह सकता। स्थानीय जीवन की सृष्टि किये विना—जिसमे छोटे-से-छोटा जन-समूह, थोडे-से घर, गली, मुहल्ले और समाज स्वतत्र हो—यह कायम नही रह सकता। यदि इसके द्वारा समाज मे उसकी आवश्यकताओ—जीवन की आवश्यकताओ, विलासिता, अध्ययन और आमोद-प्रमोद के साधन—की पूर्त्ति के लिए सहस्रो सस्थाओ का जाल न बिछ जाय, तो फिर इसका उद्देश्य सिद्ध नही होता। इस प्रकार की सस्थाए सकीर्ण और स्थानीय बनकर नही रह सकती। उनका झुकाव अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर होगा (जैसा कि विद्वत् परिषद, साइकिलिस्ट क्लब, लोकोपकारिणी सस्थाए तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाओ का हुआ करता है)।

समाजतत्रवाद द्वारा जो सामाजिक रीति-नीति—आरम्भ मे चाहे वह आशिक ही क्यो न हो—जीवन मे उत्पन्न होगी, वह एक ऐसी शक्ति होगी, जो सामाजिक रीति-नीति के मल तत्त्व को कायम रखने और विकसित करने मे समस्त दमनात्मक साधनो की अपेक्षा विशेष क्षमताशाली सिद्ध होगी।

सामाजिक संस्था का यही स्वरूप है, जिसमें हम सामजस्य की भावना का विकास चाहते है और जिस भावना को हमारे ऊपर लाद देने का काम धर्म और राज्य ने अपने ऊपर ले लिया है, किन्तु उसका परिणाम कितना

शोचनीय हुआ है, यह हम भलीभाति जानते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि समाजतत्रवाद और अराजकता दोनो एक साथ नही चल सकते, उनके इस कथन का उत्तर हमारी इन बातो मे है। आप देखेंगे कि वे दोनो एक-दूसरे के आवश्यक अग है। व्यक्तित्त्व का—व्यक्ति की मौलिकता का—शक्ति-शाली विकास तभी हो सकता है, जब भोजन और घर की प्राथमिक आवश्यकताए पूरी हो जाय, जब जीवन धारण करने के लिए प्रकृति की शक्तियो के विरुद्ध हमारा सग्राम सहल हो जाय, और जब मनुष्य का सारा समय दैनिक जीवन की तुच्छ बातो मे ही न लग जाय। ऐसा होने पर ही उसकी बुद्धि, उसकी कलात्मक सुरुचि, उसकी उद्‌भावनी शक्ति और उसकी प्रतिभा स्वतत्र रूप से विकसित हो सकती है और महान् कार्यो के लिए प्रयत्न कर सकती हैं।

वैयक्तिक विकास और स्वतत्रता के लिए समाजतत्रवाद सर्वोत्तम आधार है; पर यह वह व्यक्तिवाद नही है, जो मनुष्य को स्वार्थ के लिए सबके विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्प्रेरित करता है—व्यक्तिवाद का यही रूप अबतक जाना गया है—बल्कि यह मनुष्य की योग्यता, उसकी मौलिकता के श्रेष्ठ विकास, उसकी बुद्धि, भावना और इच्छाशक्ति के महत्तम सुफल की पूर्ण वृद्धि का द्योतक है।

जब हमारा आदर्श इस प्रकार का है तो फिर हमे इस बात की चिन्ता ही क्या है कि हमारा यह आदर्श शीघ्र चरितार्थ नही हो सकता!

हमारा पहला कर्त्तव्य यह है कि हम समाज का विश्लेषण करके, विकास के किसी निश्चित समय मे, उसकी विशेष प्रवृतियो का पता लगाये और उनका स्पष्ट वर्णन करे। फिर इसके बाद हम उन लोगो के साथ, जो हमारे जैसे ही विचार रखते है, इन प्रवृत्तियो के अनुसार कार्य करे। और फिर आज से ही, खासकर क्रान्ति के युग मे सस्थाओ तथा उन कुसस्कारो के, जिनके कारण इन प्रवृतियो के विकास मे बाधा पहुचती है, विध्वस के लिए कार्य करना शुरू कर दे। बस, शान्तिपूर्ण या क्रान्तिकारी उपायो से हम इतना ही कर सकते हैं। हम यह जानते है कि इन प्रवृतियो के अनुसार कार्य

करते हुए हम समाज की प्रगति मे सहायता पहुचाते है। जो लोग इनका प्रतिरोध करते है, वे प्रगति के मार्ग मे बाधा डालते है। फिर भी लोग अक्सर यह कहा करते है कि क्रमश सफर तय करना चाहिए, और वे निकटतम स्थान तक पहुचने के उद्देश्य से कार्य भी करते है, और तब वे उस पथ को ग्रहण करना चाहते है, जो उन्हे वहा तक ले जाता है जिसे वे पहले की अपेक्षा उच्चतर आदर्श मानते है।

किन्तु इस प्रकार तर्क करने का अर्थ मेरी समझ मे, मानव-प्रगति के वास्तविक स्वरूप को समझने मे भूल करना है, और एक ऐसी फौजी उपमा का प्रयोग करना है, जो यहा मौजू नही होती। मनुष्य-जाति गेद-जैसी लुढकनेवाली कोई वस्तु नही और न यह मार्च करनेवाला सैन्यदल है। यह एक सम्पूर्ण वस्तु है, जिसका क्रम-विकास एक साथ ही लाखो के समूह में—जिनसे यह बनी हुई है—होता रहता है। इसके लिए यदि आप कोई उपमा चाहे, तो यह उपमा सेन्द्रिय जीवो के विकास के नियमो मे मिलेगी, न कि किसी अचेतन गतिशील वस्तु मे।

बात यह है, कि समाज के विकास का प्रत्येक रूप उन सब बुद्धिमान मनुष्यो की कार्यवाही का परिणाम है, जिनको लेकर वह समाज गठित हुआ है। इसपर लाखो मनुष्यो की इच्छा-शक्ति की छाप लगी रहती है। अतएव बीसवी शताब्दी मे, विकास का क्रम चाहे कुछ भी हो, समाज की यह भावी स्थिति स्वाधीन भावो की जाग्रति का परिणाम प्रकट करेगी, जो जाग्रति इस समय हो रही है। और बीसवी शताब्दी की सस्थाओ पर इस आन्दोलन का प्रभाव कितनी गहराई के साथ पडेगा, यह इन बातो पर निर्भर करेगा कि कितने मनुष्यो ने आज परम्परा से माने जानेवाले पूर्व-सस्कारो का परित्याग किया है, पुरानी सस्थाओ पर आक्रमण करने मे कितनी शक्ति खर्च की है, जनता पर कहा तक प्रभाव डाला है और जनता के चित्त पर स्वतन्त्र समाज का आदर्श कितनी स्पष्टता के साथ अकित किया है।

श्रमजीवियो और किसानो की प्रारम्भिक बुद्धि को सभी दलो ने—इसमें सरकार मे विश्वास रखनेवाला साम्यवादी दल भी शामिल है—बराबर ज्ञात

या अज्ञात रूप मे दलगत विनयानुशासन द्वारा दवाया है। केन्द्रीय सस्थाओ और कमेटियो द्वारा प्रत्येक विषय मे आदेश दिया जाता है, और स्थानीय सस्थाओ का काम है उन आदेशो का पालन करना, 'जिससे सस्था की एकता को खतरा न पहुचे।' एक शब्द मे, सम्पूर्ण शिक्षा, सम्पूर्ण मिथ्या इतिहास इसी उद्देश्य से लिखा गया है, अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण समझ मे न आनेवाले अर्द्ध-विज्ञान का इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर विस्तार किया गया है।

जो लोग इन जर्जर चालो को तोडने के लिए कार्य करेगे, जो इस वात को जानेगे कि व्यक्तियो और जन-समूहो की प्रारम्भिक भावना को किस प्रकार समुत्थित किया जाता है, जो उनके पारस्परिक सम्वन्ध मे स्वतत्र समझदारी के सिद्धान्त के आधार पर जीवन की सृष्टि करने मे समर्थ होगे, जो इस वात को समझेगे कि वैचित्र्य—यहा तक कि सघर्ष भी—जीवन है और एकरूपता मृत्यु, वे भावी शताब्दियो के लिए ही नही, वल्कि शीघ्र ही आनेवाली क्रान्ति के लिए हम लोगो के समय के लिए कार्य करेगे।

हमे स्वाधीनता के खतरो और दुरुपयोगो से डरने की जरूरत नही। जो लोग कुछ नही करते, उन्हींसे कोई भूल नही होती। जो लोग सिर्फ आज्ञा पालन करना जानते है, वे भी उतनी ही, या उनकी अपेक्षा अधिक, भूले करते है जो अपनी वुद्धि और सामाजिक शिक्षा के अनुसार अपना मार्ग आप ढूंढ निकालने का प्रयत्न करते है। व्यक्ति की स्वतत्रता का आदर्श—यदि परिस्थिति के कारण, जिसमे एकता की भावना पर संस्थाओ द्वारा पर्याप्त रूप मे जोर नही दिया जाता, गलत रूप मे समझा जाय—तो वह अवश्य ही व्यक्ति द्वारा इस प्रकार के कार्य करा सकता है, जो मनुष्यता की सामाजिक भावनाओ के प्रतिकूल हो। यदि हम मान भी ले कि ऐसा होता ही है, तो क्या इसी कारण स्वतत्रता के सिद्धान्त को धता वताई जा सकती है? तो क्या इसी कारण उन प्रभुओ का उपदेश मान लिया जाय जो लोगों को विचलित होने से रोकने के लिए स्वतत्र प्रेस पर सैन्सर कायम करते है, और एकरूपता तथा विनयानुशासन का भाव वनाये रखने के लिए प्रगतिशील दलों का गला घोटते है? सन् १७९३ में प्रतिक्रिया की विजय को

निश्चित बनाने के लिए यही तो किया गया था।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर जब हम समाज-विरोधी कार्य होते देखे तो सिर्फ यही किया जाना चाहिए कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए और ईश्वर सबके लिए' इस सिद्धान्त को हम तिलाजलि दे दे, और किसीके भी सामने इस प्रकार के कार्यो के सम्बन्ध मे हम जो-कुछ सोचते है उसे साहस-पूर्वक साफ-साफ कह डाले। इससे सघर्ष उत्पन्न हो सकता है; किन्तु सघर्ष ही तो जीवन है। इस सघर्ष से हम उन कार्यो को जितनी खूबी से समझ सकते है, उतनी खूबी के साथ पुराने जमे हुए विचारो के प्रभाव मे रहकर कदापि नही समझ सकते।

यह प्रत्यक्ष है कि जनता के मन मे उत्पन्न होनेवाली इतनी गम्भीर क्राति केवल भाव-राज्य तक ही सीमित नही रह सकती,कार्यक्षेत्र तक उसका विस्तार होना निश्चित है। यही कारण है कि नवीन भावो के कारण सब देशो मे, सभी सभव दशाओ मे, कितने ही विद्रोहात्मक कार्य उद्दीपित हुए है; पहले पूजीवाद और राज्य के विरुद्ध व्यक्ति का विद्रोह, फिर सामूहिक विद्रोह—हड ताल और श्रमजीवियो का विद्रोह—दोनो ही मनुष्य के मन और उसके कार्य मे जनता के विद्रोह यानी क्राति के लिए तैयारी कर रहे है। इस बात में साम्यवाद और अराजकता दोनो ही ने क्रम-विकासवाद के मार्ग का अनुसरण किया है, जो किसी महान् जन-गण विद्रोह के सन्निकट होने पर भावनाओ की शक्ति द्वारा सपन्न होता है। यही कारण है, जिससे केवल अराजकता के ऊपर ही विद्रोहात्मक कार्यो का सारा दायित्व मढना भूल है। जब हम वर्त्तमान शताब्दी के प्रथम २५ वर्षो के विद्रोहात्मक कार्यो का सिहावलोकन करते है, तो हमे मालूम होता है कि विद्रोहात्मक कार्य सब दलो की ओर से किये गए थे।

सम्पूर्ण यूरोप मे हम श्रमजीवियो और किसानो के कितने ही विद्रोह पाते है। हडताल, जिसे किसी समय 'करबद्ध प्रार्थना का युद्ध' समझा जाता था, इस समय सहज ही क्राति का रूप धारण कर लेती है और कभी-कभी तो विद्रोह के रूप में वह अत्यत व्यापक हो उठती है। नई और पुरानी दुनिया मे हम दर्जनो

की सख्या में हड़तालियो के विद्रोह को क्राति के रूप मे परिणत होते हुए पाते हैं।

यदि आप इन लोगो के समान ही यह चाहते है कि व्यक्ति की सपूर्ण स्वतत्रता और फलत' उसके जीवन का आदर किया जाय, तो आपको अवश्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के ऊपर शासन किये जाने के सिद्धात का विरोध करना होगा, चाहे उसका रूप कुछ भी क्यो न हो, और आपको बाध्य होकर अराजकता के सिद्धांतो को ग्रहण करना पडेगा, जिन्हें अबतक आपने ठुकराया है। फिर आपको हमारे साथ समाज के उन स्वरूपो का सन्धान करना पडेगा, जिनसे वह आदर्श चरितार्थ हो सके, और उन सब हिंसात्मक कार्यों का अन्त हो जाय, जिनके कारण आपका क्रोध उत्तेजित हो उठता है।

: ५ :

# जेल और उसका नैतिक प्रभाव

ससार मे आर्थिक समस्या और राज-समस्या के बाद जो सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वह है समाज-विरोधी कार्यो का नियत्रण। न्याय करने का सिद्धात ही सदा अधिकारो और सुविधाओ को उत्पन्न करनेवाला रहा है, क्योंकि उसकी बुनियाद ही सगठित अधिकारो के ठोस पत्थर पर स्थित है, इसलिए जो लोग समाज के विरुद्ध कार्य करते है, उनके साथ क्या करना चाहिए? यह एक ऐसी समस्या है, जिसके अन्तर्गत राज्य और शासन की सपूर्ण महान् समस्या छिपी हुई है।

अब वह समय आ गया है, जब यह प्रश्न उठाया जाय कि क्या मृत्यु-दड देना या जेलखाने की सजा देना उचित है? सजा देने के दो उद्देश्य होते है— एक तो समाज-विरोधी कार्यों का रोकना, दूसरे अपराधी का सुधार करना। क्या वर्तमान दड-पद्धति से इन दोनो उद्देश्यों की सिद्धि होती है?

ये प्रश्न बडे गहन है। इन प्रश्नो के उत्तर पर न केवल सहस्रों अभागे

कैदियों का सुख-दु ख और उन अभागो के बेबस स्त्री-बच्चो का ही सुख-दु.ख निर्भर करता है, बल्कि समस्त मानव-समाज का सुख-दु ख भी इसी उत्तर पर निर्भर है । किसी एक व्यक्ति के साथ जो कुछ अन्याय किया जाता है, अन्त मे सपूर्ण मानव-समाज को उसका अनुभव करना पडता है ।

मुझे फ्रास मे दो जेलखानो और रूस मे कई जेलखानों की जानकारी प्राप्त करने का मौका मिला है । जीवन की अनेक परिस्थितियो के चक्कर मे पड़कर मुझे दड-विधान की सपूर्ण समस्या का अध्ययन करना पडा है । अत. में इसे अपना कर्त्तव्य समझता हू कि मै खुल्लम-खुल्ला ससार को यह बता दू कि ये जेलखाने क्या है ? यह जरूरी मालूम पडता है कि मै उनके सबध में अपने निरीक्षण और उन निरीक्षणो के परिणाम ससार के सामने प्रकट कर दूं ।

जो व्यक्ति एक बार जेल हो आता है, वह फिर लौटकर पुन वही पहुँच जाता है । यह बात अवश्यभावी है । सरकारी आकडे इसे सिद्ध करते है । फ्रास के फौजदारी शासन की वार्षिक रिपोर्ट उठा कर देख लीजिये । आपको मालूम हो जायगा कि जूरी द्वारा सजा पाये हुए व्यक्तियो मे से आधे और पुलिस अदालत में मामूली जुर्मो के लिए सजा पानेवाले व्यक्तियो मे $\frac{3}{5}$ लोगो को उनके अपराध की शिक्षा जेलखाने मे मिली है ।

जिन लोगो पर खून के मुकदमे चलते है, उनमे से आधे तथा चोरी के मुजरिमो मे दो-तिहाई, दूसरी बार के अपराधी होते है । केन्द्रीय जेलो से—जो कैदियो को सुधार करनेवाली सस्थाए समझी जाती है—जो कैदी रिहाई पाते है, उनमें से एक-तिहाई छूटने के बारह महीने के भीतर ही फिर लौटकर जेल पहुँच जाते है ।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है, वह यह कि एक कैदी जब दूसरी बार जेल पहुँचता है, तो उसका अपराध उसके पहले अपराध से अधिक गुरु-तर होता है । यदि पहले उसे मामूली उठाईगीरी के लिए सजा मिलती है, तो दूसरी बार वह अधिक दु स्साहसपूर्ण चोरी के लिए पकडा जाता है । यदि पहली बार वह साधारण मार-पीट के लिए जेल जाता है, तो दूसरी बार वह खून के

अपरा मे हाजिर किया जाता है। अपराध-तत्त्व के समस्त लेखक इस विषय पर सहमत है। यूरोप मे पुराने अपराधियो की समस्या एक महत्त्व-पूर्ण समस्या बन गई है। आप जानते है कि फ्रास इस समस्या को कैसे हल करता है? वह उन्हे पश्चिमी अफ्रीका के केअन नामक कालेपानी मे भेजकर उनका एकदम अस्तित्व मिटा देता है। केअन मे ये कैदी बुखार से पीडित होकर मर जाते है। जहाज-यात्रा मे ही कितनो की जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है।

आजतक जेलखानो मे जितने सुधार किये गए है, भिन्न-भिन्न जल-प्रणालियो के जितने प्रयोग किये गए है, उन सबके होते हुए भी उनका फल एक ही निकला है। आप लोग दड देने का चाहे जो तरीका अख्तियार करे, मगर मौजूदा कानूनो के खिलाफ जुर्मो की सख्या न तो घटती है और न बढती है। रूस मे कोडो की मार की सजा और इटली मे मृत्यु का दड उठा दिया गया, मगर उन दोनो स्थानो मे हत्याओ की संख्या ज्यो-की-त्यो बनी रही। जजो की निर्दयता बढे या घटे, दण्ड-विधान मे जो चाहे परिवर्त्तन हो, मगर जुर्म कहे जानेवाले कामो की सख्या एक-सी बनी रहती है। उसमे जो परिवर्त्तन होता है, वह कुछ अन्य कारणो से होता है, जिनका मै आगे चलकर वर्णन करूँगा। दूसरी ओर जेलखाने के शासन मे चाहे जितने परिवर्त्तन किये जाय, मगर दूसरी बार जुर्म करनेवालो की सख्या भी नही घटती। वह तो अवश्यभावी है। यह जरूर ही होकर रहेगी। कारण यह है कि जिन गुणो के द्वारा मनुष्य समाज मे रहने के योग्य बनता है, जेलखाना उन समस्त गुणो को एकदम नष्ट कर देता है। कैदखाना मनुष्य को एक ऐसा जीव बना देता है, जो अपने जीवन के अन्तिम काल तक बारम्बार इसी जीवित कब्रिस्तान मे लौटकर पहुँच जाता है। 'दण्ड-विषयक-प्रणाली को सुधारने के लिए क्या करना चाहिए?' इस प्रश्न का केवल एक ही जवाब हो सकता है, और वह है—'कुछ नही।' कैदखाने मे कुछ सुधार हो ही नही सकता। केवल कुछ महत्त्वहीन सुधारों को छोडकर जेलखानो की कुछ भी उन्नति नही की जा सकती। उसके लिए तो केवल एक ही उपाय है—वह है जेलखानो को नष्ट कर देना।

मैं तो यह प्रस्ताव करूँगा कि प्रत्येक जेलखाने का इंचार्ज एक-एक पेस्टालोज्जी मुकर्रर कर दिया जाय। पेस्टालोज्जी एक मशहूर स्विस-शिक्षक था। वह घर से निकले हुए आवारा लडको को लेकर पालता था और उन्हे शिक्षा देकर उत्तम नागरिक बना देता था। मैं तो यह भी कहूँगा कि आजकल के जेल के पहरेदारो मे जो भूतपूर्व सैनिक और पुलिसमैन हुआ करते हैं उनको अलग करके उनके स्थान मे साठ पेस्टालोज्जी नियत कर दिये जाय। यह महान् स्विस-शिक्षक तो निश्चय ही जेल का पहरेदार बनने से इन्कार कर देगा, क्योकि जेलो का आधारभूत सिद्धात ही गलत है। वह लोगो की स्वतत्रता का अपहरण कर लेता है। जबतक आप लोगो की स्वतत्रता हरण करते रहेगे, तबतक आप उनका सुधार नही कर सकते। आप केवल 'पुराने पापी' अपराधियों की ही सृष्टि करते रहेगे। मैं यह बात आगे सिद्ध करूँगा।

पहली बात तो यही ले लीजिये कि कोई भी अपराधी यह मानने के लिए तैयार नही है कि उसे जो सजा मिली है, वह न्यायोचित है। केवल यह बात ही हमारी न्याय-प्रणाली को कलकित सिद्ध करती है। जेल मे किसी कैदी या किसी बडे भारी जुआचोर से बात कीजिये। वह कहेगा—"हम छोटे-छोटे जुआचोर पकडकर यहा भेज दिये जाते है, परन्तु बडे-बडे जुआचोर मजे मे स्वतत्र घूमते है, और साधारण जनता उनकी इज्जत करती है।" आप जानते है कि बहुत-सी ऐसी बडी-बडी कपनिया मौजूद है, जो केवल गरीबो का आखिरी पैसा लूटने के लिए ही बनी है, और जिनके सस्थापकगण कानून के फदे से बचते हुए इन गरीबो के पैसो को लूटकर अलग हो जाते है। आप ऐसी कम्पनियो के लिए क्या जवाब देगे ? अश (शेयर) निकालनेवाली अनेको कम्पनियो, उनके झूठे नोटिसो और भारी जुआचोरियो की बाते हम सब जानते है। ऐसी दशा मे हम लोग कैदी को इसके सिवा क्या जवाब दे सकते है कि वह सच कहता है ?

अथवा एक दूसरे आदमी को ले लीजिये। उसने पैसो की एक गुल्लक चुराई है। वह कहता है—"मैं काफी चालाक न था, बस इतनी ही बात थी।" आप उसके इस कथन का क्या जवाब देगे ? क्योकि आप जानते है कि अनेको

वडी-वड़ी जगहो मे कैसे-कैसे काड हुआ करते है। वडे-वडे भयकर काडो का भडाफोड होने पर आप देखते है कि वडे-वडे अपराधी भी अक्सर 'निरपराध' कहकर छूट जाते है। हम लोगो ने कितनी वार कैदियो को यह कहते सुना होगा—"वडे चोर तो वे है, जिन्होने हम लोगो को यहा कैद कर रखा है, हम लोग तो छोटे चोर है।" जव आप यह जानते है कि वडे-वडे व्यापारो और उच्च आर्थिक मामलो मे वडी-वडी जुआ-चोरिया हुआ करती है, जव आप यह जानते है कि धनी समाज का केवल-मात्र आधार प्रत्येक सभव उपाय से 'हाय पैसा, हाय पैसा' चिल्लाना है, तव भला वताइये कि आप कैदियो के उपर्युक्त कथन मे मीन-मेख कैसे कर सकते है? ससार मे ईमानदार (धनिको की परिभाषा के अनुसार ईमानदार) और अपराधी लोग रोज ही हजारो सशयात्मक व्यापार किया करते है। यदि आप उन सव व्यापारो की परीक्षा करेंगे, तो आपको विश्वास हो जायगा कि जेलखाने अपराधियो के लिए नही है, वल्कि वे मूर्खो के लिए है। चालाक अपराधी सदा कानून की गिरफ्त के वाहर रहकर मजा किया करते है, मगर वेचारे कम चालाक कानून के पजे मे फँसकर जेल की हवा खा जाते है। यह तो हुई जेल के वाहर की दशा। अव रही जेल के भीतर की दशा, सो उसके लिए अधिक कहना फिजूल है। हम लोग अच्छी तरह जानते है कि वह कैसी है। चाहे खाने के सवध मे हो, चाहे रियायतो के सवव मे हो, अमरीका से एशिया तक आपको कैदी वही एक वात कहते हुए मिलेंगे—"सवसे वडे चोट्टे हम नही है, वल्कि वे है, जिन्होने हमे यहा कैद कर रखा है।"

वेकारी के दुष्परिणामो को सभी जानते है। काम से मनुष्य को आराम मिलता है। लेकिन काम-काम भी तो भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। एक तो स्वतत्र आदमी का काम होता है, जिसे वह अपने व्यक्तित्व का अश समझता है और दूसरा एक गुलाम का काम होता है, जो उनकी आत्मा का पतन करता है। कैदी लोग जो काम करते है, वह अनिच्छापूर्वक किया जाता है। वह केवल और अधिक दड के डर मे किया जाता है। वे लोग जो काम करते है, उसमे उनके मस्तिष्क की शक्ति का उपयोग नही होता, इसलिए उस काम मे

कोई आकर्षण नही दिखाई देता। इसके अलावा उनकी मेहनत की जो मजदूरी उन्हे मिलती है, वह भी इतनी कम, कि जिससे उनका काम भी उन्हे एक प्रकार का दड दिखलाई देता है।

मेरे अराजकवादी (अनार्किस्ट) मित्र क्लैरवू के जेलखाने मे सीप के बटन बनाते थे। उन्हे दस घटे की कठिन मेहनत की मजदूरी बारह सेंट मिलती थी। इन बारह सेंटो मे से भी चार सेंट सरकार अपने पास जमा कर लेती थी। इस कठिन मेहनत और तुच्छ वेतन को देखकर आप उन अभागे कैदियो की निराशा का सहज ही अनुमान कर सकते है। हफ्ते भर के हाड-तोड परिश्रम के बाद जब उन्हे ५६ सेंट वेतन मिलता है, तो उनका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "वे लोग, जिन्होने हमे यहा—जेल मे—बन्द कर रखा है, असली चोट्टे है, हम नही।"

जेल के कैदी का बाहरी ससार के समस्त जीवन से सबध टूट जाता है। ऐसी दशा मे उसमे सर्वसाधारण की भलाई के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा कैसे उत्पन्न हो सकती है? जिन लोगो ने जेलखाने की पद्धति बनाई है उन्होने अपनी निर्दयता को सुन्दर रूप देने के लिए कैदी का समाज से सब सपर्क तोड दिया है। इग्लैण्ड मे कैदी के स्त्री-बच्चे उसे तीन मास मे एक बार देख सकते है। उन्हे जिस प्रकार पत्र लिखने की इजाजत है, वह एकदम बेहूदा है। समय-समय पर अधिकारी वर्ग मानव-स्वभाव की भी उपेक्षा करके कैदियों को चिट्ठी की जगह केवल एक छपे हुए फार्म पर ही दस्तखत करने की इजाजत देते है। किसी कैदी पर यदि कोई सबसे उत्तम प्रभाव पड सकता है, यदि कोई चीज उसके जीवन के अन्धकार मे प्रकाश की किरण ला सकती है, तो वह है जीवन का कोमल अश, वह उसके सगे-सबधियो का प्रेम है, और हमारी मौजूदा जेल-प्रणाली मे इसीको बाकायदा रोका जाता है।

कैदी का जीवन शुष्क जीवन है। उसका स्रोत सदा एक-सा बहा करता है। उसमे न तो उत्साह और उच्छ्वास होता है, और न भाव-तरग। उसके हृदय की समस्त कोमल वृत्तिया शीघ्र ही बेकार हो जाती है। दक्ष कारीगर, जो अपने काम से बडा प्रेम रखते थे, उन्हे जेल मे रहकर अपने काम मे कोई

मज़ा नही आता । उनकी शारीरिक शक्ति भी धीरे-धीरे गायब हो जाती है ।

उनके दिमाग मे किसी बात पर लगातार ध्यान देने की शक्ति नही रह जाती । जेल मे रहकर कैदी का विचार उतनी तेजी से नही दौडता—कम-से-कम वह अब किसी चीज पर देर तक जम नही सकता । उनके विचारो की गभीरता जाती रहती है । मेरी समझ मे स्नायुविक शक्ति के ह्रास का सबसे बडा कारण विभिन्नता की कमी है । साधारण जीवन मे हमारे दिमाग पर प्रतिदिन हजारो प्रकार की आवाजो और रगो की छाप पडा करती है, हजारो छोटी-छोटी बाते हमारी चेतना पर प्रभाव डालकर मस्तिष्क की शक्ति को बल प्रदान करती रहती है, परन्तु कैदी के दिमाग मे आघात करने के लिए ये कुछ भी नही होती । उसके हृदय पर छाप डालनेवाली बाते दो-चार ही होती है, जो सदा एक ही-सी हुआ करती है ।

जेलो मे अध पतन का एक और भी कारण है । हमारे माने हुए नैतिक नियमो के उल्लघन का एक प्रधान कारण कहा जा सकता है—इच्छा-शक्ति की कमी । जेल के अधिवासियो मे अधिकाश वे लोग है, जिनमे इतनी दृढ इच्छा-शक्ति नही थी कि वे अपने लोभ को सवरण कर सकते, अथवा जो अपने क्षणिक आवेश को रोक सकते । जेलखानो मे, मठो (कॉनवेट) के समान मनुष्य की इच्छा-शक्ति को मार देने का प्रत्येक प्रयत्न किया जाता है । उसे किसी भी बात में निर्वाचन की स्वतत्रता नही है । जिन अवसरो पर वह अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग कर सकता है, वे बहुत कम और बहुत क्षणिक होते है । उसका समस्त जीवन पहले ही से कानून-कायदो से जकडा होता है । उसे उनकी धार के साथ बहना पडता है । उसे कठोर दड के भय से आज्ञा का पालन करना पडता है ।

ऐसी दशा मे जेल जाने के पूर्व कैदी मे थोडी-बहुत जो कुछ इच्छा-शक्ति होती है, वहा पहुँचकर वह भी गायब हो जाती है । जब वह जेल की दीवारो से छूटकर स्वतत्र होगा और जीवन के अनेक प्रलोभन जादू की भाति उसके सामने आकर उपस्थित होगे, तब भला उसमे वह शक्ति कहा से आयगी जो उसके उन प्रलोभनो को रोक सके ? यदि कोई व्यक्ति वर्षो तक अपने

नियत्रण करनेवालो के हाथ का खिलौना रहा है और उसकी तमाम अन्त.-शक्ति नष्ट कर दी गई है, तो किसी आवेशयुक्त झगडे मे वह शक्ति कहा से आयगी जो उसे रोक सके ? मेरी समझ मे केवल यही बात हमारे सपूर्ण दण्ड-विधान का—जो कि व्यक्तिगत स्वतत्रता के अपहरण पर स्थित है—सबसे भयकर कलक है ।

सभी जेलो का एक ही सार है—व्यक्तिगत इच्छा को दबा देना। इसका आरम्भ कैसे हुआ, यह बात आसानी से समझ मे आ सकती है। इसका उत्थान अधिकारियो की इस इच्छा से हुआ कि कम-से-कम पहरेदारों के द्वारा अधिक-से-अधिक कैदियो की देख-भाल की जा सके। जेल के अधिकारियो का आदर्श यह है कि केवल एक पहरेदार के द्वारा बिजली का बटन दबाते ही हजारो चलती-फिरती मशीने उठे, काम करे, खाये-पीये और सो रहे। फिर बजट मे भी तो किफायत होनी ही चाहिए, मगर इस बात पर कोई ध्यान नही देता कि जेल से निकलने पर ये लोग, जो मशीन बना डाले जाते है, उस ढग के मनुष्य नही रह जाते, जैसे समाज चाहता है। जब कोई कैदी जेल से छूटकर आता है, तो पुराने साथी उसकी राह देखते हुए मिलते है। वे उसे बन्धुभाव से अपनाते है और वह पुन उसी धारा मे पड जाता है जिसमे बह-कर पहली बार जेल पहुँचा था। छूटे हुए कैदियो की रक्षा के लिए जो सस्थाएं होती है, वे कुछ नही कर सकतीं।

कैदी के पुराने साथी उसके लौटने पर उसका जैसा स्वागत करते हैं और रक्षण-संस्थाओं के उदारहृदय लोग उसका जैसा स्वागत करते हैं—इन दोनो मे भी बडा भारी अन्तर है। भला, बताइये कि इन दोनो मे से कौन उसे अपने घर पर निमंत्रित करके कहेगा—"लो, यह तुम्हारे रहने के लिए कमरा है और यह है काम। तुम हमारे साथ एक मेज पर बैठो और कुटुम्बी की तरह रहो।" जेल से छूटा हुआ व्यक्ति मित्रता से बढाये हुए हाथ को खोजता आता है, मगर समाज—जिसने उसे भरसक अपना शत्रु बनाया है और जिसने उसमे जेल के तमाम दोष उत्पन्न कर दिये है—उसे दुत्कार देता है। वह उसे सजा देकर पुन. अपराधी बना देता है।

अच्छे वस्त्रो का जो प्रभाव पडता है, उसे सब जानते है। यदि किसी जानवर को कोई चीज हास्यास्पद बना देती है, तो उसे भी अपने सजातीयो के सामने उपस्थित होने में लज्जा आती है। यदि किसी बिल्ली को कोई काला और ीला रग दे, तो वह अन्य बिल्लियो के साथ मिलने-जुलने का साहस न करेगी, लेकिन मनुष्य जिन कैदियो को सुधारने का ढोग करता है, उन्हे पागलो के-से कपडे पहनने को देता है।

अपने सपूर्ण बन्दी-जीवन मे, कैदियो के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है जिसके प्रति उनके मन मे घृणा होती है। जिन आदरसूचक बातो के मनुष्य-मात्र अधिकारी है, उनमे से एक भी कैदी के प्रति प्रदर्शित नही की जाती। वह तो एक अदद के—एक नम्बर के—समान है। उसके साथ नम्बर पडी हुई चीज जैसा व्यवहार किया जाता है। मनुष्य की सबसे महान् मानवी इच्छा है किसी दूसरे मनुष्य से बात करना। यदि कैदी अपनी इस इच्छा को पूरी करता है, तो वह जेल के नियमो को भग करता है। जेल जाने के पहले चाहे उसने कभी झूठ न बोला हो, या कभी धोखा न दिया हो, पर जेल मे आकर वह तना अधिक झूठ बोलना और धोखा देना सीख जाता है कि वह उसके स्वभाव के अश हो जाते है।

जो लोग इस झूठ और दगाबाजी के लिए तैयार नही होते उनके ऊपर बुरी बीतती है। यदि कोई व्यक्ति खाना-तलाशी को अपमानजनक समझता है, यदि किसी आदमी को जेल का भोजन बेस्वाद लगता है, यदि उसे पहरेदारो का तम्बाकू चुराकर बेचना बुरा मालूम होता है, यदि वह अपनी ेटी अपने साथी को बाट देता है, यदि उसमे अभी इतना आत्म-सम्मान बाकी है कि उसे अपमान पर क्रोध आ जाय, यदि उसमे तनी ईमानदारी है कि वह नीचतापूर्ण ड्यत्रो के प्रति विद्रोह कर सके, तो उसके लिए जेलखाना नरक बन जाता है। वह या तो काल-कोठरी मे सडने के लिए भेज दिया जायगा, अन्यथा उसपर उसकी शक्ति से अधिक काम लाद दिया जायगा। जेल के नियमो की पाबन्दी मे जरा-सी भी भूल होने से उसे कडी-से-कडी सजा दी जायगी और एक सजा के बाद दूसरी सजा मिलती जायगी। अक्सर अत्या-

चारो के मारे वह पागल हो जाता है। यदि वह जीता-जागता जेलखाने के वाहर निकल आवे, तो समझ लीजिये कि वह वडा किस्मतवर है।

अखवारो मे यह लिख देना कि जेलखाने के पहरेदारो पर कडी निगाह रखनी चाहिए और जेलर लोग भले आदमियो मे से चुने जाने चाहिए—यह सब बहुत आसान है। आदर्श शासन-पद्धतियो के काल्पनिक विधान बनाने से वढकर आसान कोई बात नही है। लेकिन आदमी आदमी ही रहेगा—चाहे पहरेदार हो या कैदी। जब इन पहरेदारो को अपना सम्पूर्ण जीवन इस कृत्रिम परिस्थिति मे बिताने के लिए बाध्य होना पडता है, तो उन्हे उसका फल भी भुगतना पडता है। केवल मठो को छोडकर और कही भी ओछे षड्यन्त्रो की ऐसी अधिकता नही रहती, जैसी जेलो मे। ससार मे और कही भी कलक की बातो और झूठे किस्सो का इतना विकास नही होता, जितना जेल के पहरेदारो मे।

आप यदि किसी व्यक्ति को कोई शासन-अधिकार दे, तो वह अधिकार उसे पतित किये बिना नही रह सकता। वह व्यक्ति उस अधिकार का दुरुपयोग करेगा। यदि उसका कार्य-क्षेत्र सकुचित हुआ तो वह अपने अधिकार का दुरुपयोग करने मे और भी कुण्ठित होगा और वह अपनी शक्ति को और भी अधिक समझेगा। पहरेदारो को अपने दुश्मनो के वीच मे रहना पडता है, अत वे दयालुता के आदर्श नही बन सकते। कैदियो के गुट के विरोध मे जेलरो का गुट हुआ करता है। जेल की सस्था ही ऐसी है जो उन्हे ओछे स्वभाव का नीच अत्याचारी वना देती है। यदि आप उनके स्थान मे पेस्टोलोज्जी को भी नियत कर दे, तो वह भी थोडे दिन वाद जेल का पहरेदार ही वन जायगा।

कैदी के मन मे समाज के प्रति विद्वेष के भाव शीघ्र ही जाग्रत हो जाते है। वह उन लोगो से, जो उसे पीडित करते है, घृणा करने का आदी हो जाता है। वह ससार को दो भागो मे विभाजित कर देता है। एक मे वह स्वय अपने को और अपने साथियो को समझता है और दूसरे मे वह तमाम वाहरी दुनिया को समझता है। जेल के पहरेदारो और उसके अफसरो को वह दूसरे भाग का

प्रतिनिधि समझता है। ससार के समस्त मनुष्यो के खिलाफ—जो कोई भी जेल का कपडा नही पहनता उसके खिलाफ—कैदियो का क गुट वन जाता है। वह समझता है कि वे सव उसके शत्रु है, और उन शत्रुओ को धोका देने के लिए जो कुछ भी किया जाय, उचित है।

जैसे-ही कैदी जेल से छूटकर आता है, वैसे-ही वह अपने उपर्युक्त सिद्धान्त को कार्य मे परिणत करने लगता है। पहले तो सभवत उसने विना समझे-बूझे अपराध किया था, मगर अव अपराव करना उसका सिद्धान्त वन जाता है। प्रसिद्ध लेखक ज़ोला के शव्दो मे उसकी एक यही धारणा होती है कि "ये ईमानदार आदमी कैसे वदमाश है!"

यदि कैदियो पर पडनेवाले जेल के समस्त प्रभावो पर हम विचार करे तो हमे यह निश्चय हो जायगा कि वे मनुष्य को अधिकाधिक सामाजिक जीवन के अयोग्य वनाते है। दूसरी ओर इन प्रभावो मे से कोई भी ऐसा नही है जो उसकी नैतिक वृत्तियो को ऊपर उठा सके, या उसके जीवन मे उच्च-भाव भर सके। इसके अलावा हम यह भी देख चुके है कि ये प्रभाव उसको अन्य अपराध करने से भी नही रोक सकते, इसलिए जिन उद्देश्यो के लिए ये उपाय वनाये गए है, उनमे से वे एक को भी पूरा नही करते।

इसलिए अव यह सवाल उठाना चाहिए कि "जो लोग कानून भग करते है, उनके साथ क्या करना चाहिए?" कानून से मेरा मतलव कितावी कानूनो से नही है। वे तो एक दु खदायी—अतीव दु खदायी भूतकाल की कष्टप्रद विरासत है। कानून से मेरा मतलव उन नैतिक सिद्धान्तो से है, जो हम लोगो में से प्रत्येक के हृदय पर अकित है।

एक समय था जब वैद्य या डाक्टरी का उद्देश्य केवल दवा देना-मात्र था। वैद्यो ने अधेरे मे टटोल-टटोलकर अपने अनुभव से कुछ औपधिया जान ली थी। वे केवल उन्हीको देना जानते थे, मगर आजकल वैद्यो का दृष्टिकोण एकदम वदल गया है। आजकल उनका उद्देश्य केवल रोगो को अच्छा करना ही नही है, वल्कि रोगो को होने से रोकना है। आजकल सफाई ही सवसे अच्छी दवा समझी जाती है।

हम लोग अबतक जिसे अपराध कहते हैं, हमारी संतान उसे आगे चलकर 'सामाजिक व्याधि' के नाम से पुकारेगी। हमें इस सामाजिक व्याधि के लिए भी वही करना पडेगा, जो हम शारीरिक व्याधि के लिए करते रहे हैं। इस रोग को होने से रोकना ही उसका सर्वश्रेष्ठ इलाज है। समस्त आधुनिक चिन्ताशील व्यक्ति, जिन्होंने 'अपराधो' पर विचार किया है, इसी परिणाम पर पहुचे हैं। इन व्यक्तियो के प्रकाशित किये हुए समस्त ग्रन्थो मे इस बात का पूरा मसाला मौजूद है कि हम लोगो को उन लोगो के प्रति—जिन्हे समाज ने अबतक बडी कायरता से पगु बना रखा है, कैद कर रखा है या फासी पर लटका दिया है—एक नवीन भाव ग्रहण करना चाहिए।

समाज-विरोधी कार्यों के, जो अपराध के नाम से पुकारे जाते हैं, होने के कारण तीन प्रधान श्रेणियो के होते हैं। ये श्रेणिया सामाजिक, शरीर-धर्म-सम्बन्धी और भौतिक हैं। इनमे से मैं पहले अन्तिम कारण पर विचार करूगा। यद्यपि इन कारणो का ज्ञान लोगो को कम है, लेकिन उनके प्रभाव में कोई सन्देह नही है।

जब हमारा कोई मित्र चिट्ठी लिखकर उसपर पता लिखे बिना ही उसे डाकखाने मे डाल देता है, तो हम कहते हैं, यह एक दुर्घटना है। यह तो ऐसी बात हुई जिसका पहले कभी खयाल ही नही किया था। मगर असली बात यह है कि मानव-समाज मे ये दुर्घटनाएं, ये अप्रत्याशित बाते, वैसे ही नियमित रूप मे हुआ करती हैं, जैसे वे घटनाए, जिनका बहुत पहले से सोच-विचार किया जाता है। डाक मे छोडे जानेवाले बिना पते लिखे हुए पत्रो की सख्या प्रतिवर्ष नियमित रूप से एक-सी रहती है, जिसे देखकर आश्चर्य होगा। उनकी सख्या मे प्रतिवर्ष कुछ थोडी-बहुत घटी-बढी हो सकती है, लेकिन यह घटा-बढी बहुत ही थोडी होती है। इसका कारण लोगो का भुलक्कडपन है। यद्यपि यह भुलक्कडपन एक अनिश्चित-सी बात जान पडती है, लेकिन दरअसल वह भी ऐसे कडे नियमो के अधीन है ही जैसे ग्रहो की चाल।

यही बात प्रतिवर्ष होनेवाली हत्याओ के लिए भी लागू है। पिछले वर्ष के आकडो को लेकर कोई भी व्यक्ति यह भविष्यवाणी कर सकता है कि

यूरोप के फला देश मे इस वर्ष लगभग इतनी हत्याए होगी। यह भविष्य-वाणी आश्चर्यजनक रूप से ठीक होती है।

हमारे कर्मो पर भौतिक कारणो का क्या प्रभाव पडता है, इसका पूर्ण विश्लेषण अभी तक नही हुआ है, मगर यह मालूम हो गया है कि गर्मी मे मार-पीट आदि के मामले अधिक होते है और जाडो मे सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधो की सख्या अधिक रहती है। प्रोफेसर इनरिको फेरी ने ग्राफ-पेपर पर अपराधो की सख्या की वक्ररेखा खीची है। यदि आप उस रेखा का ताप (टेम्परेचर) की वक्ररेखा के साथ मिलान करे, तो यह साफ दिखाई दे जायगा कि अपराधो की वक्ररेखा ताप की वक्ररेखा के साथ उठती-गिरती है। तब आपको यह मालूम हो जायेगा कि मनुष्य कितना अधिक मशीन के समान है। मनुष्य अपनी स्वतत्र इच्छा-शक्ति का गर्व किया करता है। पर वह ताप की घटा-बढी, आधी-पानी तथा अन्य भौतिक कारणो पर कितना निर्भर करती है! जब ऋतु अच्छी हो, फसल भी भरपूर हुई हो और गाववाले मजे मे हो, तो अपने झगडो को मिटाने के लिए वे छुरी की शरण कम लेगे, परन्तु जब ऋतु अच्छी न हो और फसल खराब हो, तो उस समय गाववाले चिन्तित होते है और झगडो का रूप अधिक भयकर हो जाता है।

शरीर-धर्म-सम्बन्धी कारण—जो मस्तिष्क की बनावट, पाचन-शक्ति और स्नायु-प्रणाली पर निर्भर करते है—निश्चय ही भौतिक कारणो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पैतृक शक्तियो और शारीरिक सगठन का हमारे कर्मो पर क्या प्रभाव पडता है, इस बात की बडी खोजपूर्ण जाच हो चुकी है, इसलिए हम इनके महत्त्व का काफी सही अन्दाज लगा सकते है।

सेसारे लम्ब्रोसो का कथन है कि जेल-अधिवासियो मे अधिकाश के मस्तिष्क की बनावट मे कुछ दोष होता है। इस बात को हम तभी स्वीकार कर सकते है, जब हम जेल मे मरनेवालो के दिमागो और जेल के बाहर की दरिद्रता मे बुरी तरह जीवन व्यतीत करके मरनेवालो के दिमागो की तुलना करे। उसने यह दिखलाया है कि निर्दयतापूर्ण हत्या करनेवाले व्यक्ति वे होते है जिनके दिमागो मे कोई बडा दोष होता है। उसके इस कथन से हम सहमत

है, क्योकि यह बात निरीक्षण द्वारा सिद्ध हो चुकी है। मगर जब लम्ब्रोसो यह कहता है कि समाज को अधिकार है कि वह इन ेषपूर्ण मस्तिप्कवालो के विरुद्ध कार्रवाई करे, तब हम उसका कथन मानने को तैयार नही है। समाज को इस बात का कोई अधिकार नही है कि वह इन रोगी मस्तिष्कवालो को नष्ट करदे। हम मानते है कि जो लोग ये क्रूर अपराध करते है, वे करीब-करीब दुर्बुद्धि—सिडी-से—होते है। मगर सभी सिडी तो खूनी नही होते।

राजमहलो से लेकर पागलखानों तक अनेको कुटुम्बो मे आपको सिडी लोग मिलेगे जिनमे वे सब लक्षण मौजद है, जो लम्ब्रोसो के अनुसार 'अपराधी सनकियो' मे विशेषता से पाये जाते है। उनमे और फासी पर चढनेवालो मे यदि अन्तर है, तो केवल उस वातावरण का, जिसमे वे रहते है। दिमागी बीमारिया निश्चय ही हत्या करने की प्रवृत्ति को उकसा सकती है, मगर यह अवश्यम्भावी नही है कि वे ऐसा करे ही। प्रत्येक बात उन परिस्थितियो पर निर्भर करती है, जिनमे मानसिक रोगी को रहना पडता है।

इस सम्बन्ध मे जितने तथ्य एकत्र हो चुके है, उनसे प्रत्येक समझदार आदमी यह आसानी से देख सकता है कि जिन लोगों के साथ अपराधी की भाति व्यवहार होता है, उनमे से अधिकाश किसी-न-किसी रोग से पीडित है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि होशियारी से उनका रोग दूर करके उन्हे अच्छा करने की कोशिश की जाय, न कि उन्हे जेलखानो मे—जहा उनका रोग और भी बढ जाता है—ठेल दिया जाय।

अगर हम लोग स्वय अपने ही विचारो का कडा विश्लेषण करे, तो हम देखेगे कि समय-समय पर हमारे दिमागो मे ऐसे अनेक विचार बिजली की तेजी से दौड जाया करते है जिनमे दुष्कर्मों की नीव डालनेवाले कीटाणु छिपे रहते है। साधारणत. हम लोग इन विचारो को दुतकार देते है, लेकिन यदि हम ऐसी परिस्थिति मे हो, जिनमे इन विचारो को अनुकूल प्रोत्साहन मिले, अथवा यदि हमारे अन्य भाव—जैसे प्रेम, दया, भ्रातृत्व-भाव आदि—इन क्रूर विचारो का प्रतिकार न करे, तो ये विचार भी हमे अन्त में अपराधों मे ला घसीटेगे। संक्षेप मे यही कहना चाहिए कि लोगो को जेल पहुँचाने में

तो हमारे शहरो के बडे-बडे महलो का एक पत्थर भी साबुत न बचता।

यह तो हुई समाज की निम्नतम सीढी की वात, परन्तु अब यह देखिये कि सडक पर पलनेवाले ये लडके समाज के सवसे ऊपरवाली सीढी पर क्या देखते है ? उन्हे वहा सवेदना-शून्य और मूर्खतापूर्ण अय्याशी,सजी हुई दुकाने, धन का प्रदर्शन करनेवाला साहित्य, सपत्ति की तृषा उत्पन्न करनेवाली धन की उपासना और दूसरे के मत्थे आनन्द से मजा करने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। वहा का मूल मत्र है—"धनवान् बनो ! तुम्हारे मार्ग मे जो-कुछ रुकावट डाले, उसे नष्ट कर दो। जिन उपायो से जेल जाना पडे, केवल उन उपायो को छोडकर, इसके लिए तुम जो उपाय चाहो, काम मे लाओ।" शारीरिक मेहनत से वे यहातक घृणा करते है कि अधिक-से-अधिक वे जिमनास्टिक कर लेगे या टेनिस खेल लेगे, मगर फावड़ा या आरा छूना उन्हे गुनाह है। उनमे कठोर मेहनती भुजाए निम्नता का चिन्ह समझी जाती है और रेशमी पोशाक उच्चता की निशानी मानी जाती है।

स्वय समाज रोज ही ऐसे लोगो को उत्पन्न करता है जो ईमानदारी से परिश्रम करके जीवन बिताने के योग्य नही है और जिनमे समाज-विरोधी वासनाए भरी रहती है। जब उनके दुष्कर्मो के साथ उन्हे आर्थिक सफलता भी प्राप्त हो जाती है, तो यही समाज उनकी प्रशसा के गीत गाता है। और जब ये लोग 'सफल' नही होते, तो उन्हे जेल भेज देता है। जब सामाजिक क्राति श्रम और पूजी के पारस्परिक सम्वन्ध को वदल देगी, जब काहिलो का नाम न रह जायगा, जव प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सार्वजनिक भलाई के लिए काम करेगा, जब प्रत्येक बालक को उसकी आत्मा और मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ हाथ से काम करना भी सिखाया जायगा, तब हमे जेलखानो, जल्लादो और जजो की जरूरत न रह जायगी।

मनुष्य तो अपने चारो ओर की परिस्थितियो का, जिनमे वह वढता है और अपना जीवन व्यतीत करता है, फल हुआ करता है। यदि वह अपने को सपूर्ण समाज का अंश समझने का आदी हो जाय, यदि वह यह समझने लगे कि अगर वह किसीको कुछ हानि पहुँचायेगा, तो उस हानि का असर

अन्त मे उसपर भी पडेगा, तो नैतिक सिद्धातो का उल्लंघन करनेवाले कार्यो की सख्या बहुत कम रह जायगी।

आजकल जितने कार्य अपराध कहकर दडनीय समझे जाते है, उनमे से दो-तिहाई सपत्ति के विरुद्ध होते है। यदि लोगो का निजी सपत्ति रखने का अधिकार उठा दिया जाय, तो वे गायब हो जाय। अब रहे व्यक्तियो के शरीर पर होनेवाले अत्याचार। सो यह सिद्ध हो चुका है कि लोगो मे जैसे-जैसे सामाजिक भाव बढते जाते है, वैसे-वैसे वे भी घटते जाते है। यदि हम इन अपराधो के फल पर आघात करने के बजाय उनके कारणो—उनकी जड—पर ही हमला करे तो वे भी एकदम गायब हो जायगे।

अवतक दड की सस्थाएँ—जो वकीलो को इतनी प्यारी है—चार सिद्धातो के मेल पर निर्भर थी, पहला बाइबिल का बदला लेने के सिद्धात, दूसरा मध्यकालीन शैतान का विश्वास, तीसरा आधुनिक वकीलो की डर उत्पन्न करने की नीति और चौथा सजा के द्वारा अपराधो को रोकने का विचार।

मै यह नही कहता कि जेलखाने तोडकर उनके स्थान पर पागलखाने बना दिये जाय। ऐसी दुष्ट बात मेरे हृदय से बहुत दूर है। पागलखाना भी तो एक तरह का जेलखाना है। कुछ उदार बिचारवाले लोग कहते है कि जेलखानो को ही कायम रखना ही चाहिए, मगर उनमे डाक्टरो और शिक्षको को नियत कर देना चाहिए। मेरे विचार उनके इस सिद्धात से भी बहुत दूर है। असल मे कैदियो को समाज मे आजकल जिस चीज का अभाव है, वह है उनकी सहायता के लिए बढाया हुआ हाथ। उन्हे समाज मे कोई ऐसा नही मिलता जो बाल्यावस्था से ही सरलतापूर्वक मित्रता का हाथ बढाकर उनकी उच्च मानसिक वृत्तियो और आत्मा को विकसित करने मे सहायता दे। शरीर की बनावट मे दोष होने के कारण या खराब सामाजिक दशाओ के कारण, जिन्हे स्वय समाज लाखो आदमियो के लिए उत्पन्न करता है, लोगो की इन उच्च मानसिक वृत्तियो के स्वाभाविक विकास मे व्याघात पहुँचता है, और इसीलिए वे लोग अपराधी होजाते है, लेकिन यदि किसी

व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीन ली जाय और उसे किसी भी काम को पसद करने या न करने का अधिकार न रह जाय, तो वह अपने मस्तिष्क और हृदय की उच्च वृत्तियो को इस्तेमाल नही कर सकता। उसके लिए डाक्टरो-वाला जेलखाना या पागलखाना मौजूदा जेलो से भी खराब होगा। मनुष्यो की उन बीमारियो का, जिन्हे हम अपराध कहा करते है, केवल-मात्र इलाज मानवी बन्धुत्व-भाव और स्वतत्रता है।

निसदेह प्रत्येक समाज मे—चाहे वह कैसी ही उत्तमता से सगठित क्यो न हो—ऐसे मनुष्य अवश्य ही मिलेगे, जो आसानी से आवेश मे आ जायगे और जो समय-समय पर समाज-विरोधी कार्य भी कर डालेगे, लेकिन इसे रोकने के लिए जरूरत है तो इस बात की कि उनके आवेश को स्वस्थ राह पर लगाया जाय, वे उसे दूसरे ढग पर निकाल सके।

आजकल हम लोग बडा एकाकी जीवन व्यतीत करते है। निजी सपत्ति-प्रणाली ने हमारे पारस्पकि सबधो मे एक आत्मरत व्यक्तिवाद उत्पन्न कर दिया है। हम एक-दूसरे को बहुत कम जानते है। हमे एक-दूसरे के सपर्क मे आने के मौके बहुत कम मिलते है। किन्तु हम देख चुके है कि इतिहास मे समष्टिवादी जीवन के उदाहरण—जिनमे लोग एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक घनिष्टता से बँधते है—मौजूद है, जैसे चीन का 'सम्मिलित कुटुम्ब' या कृषक-सघ। ये लोग एक-दूसरे को सचमुच जानते है। परिस्थितियो के दबाव से उन्हे एक-दूसरे को सासारिक और नैतिक सहायता देनी ही पडती है।

आदि काल मे कौटुम्बिक जीवन समष्टिवाद के ग का था। वह अब लुप्त हो गया है। अब उसके स्थान मे एक नये कौटुम्बिक जीवन का प्रादुर्भाव होगा जो समान आकाक्षाओवाले आदमियो का कुटुम्ब होगा।

इस कुटुम्ब मे लोगो को मजबूरन एक-दूसरे को जानना पडेगा, एक-दूसरे की सहायता करनी पडेगी और प्रत्येक अवसर पर उन्हे एक-दूसरे को नैतिक सहारा देना पडेगा। इस पारस्परिक अवलम्बन से अधिकाश समाज-विरोधी कार्य, जिन्हें हम आज देखते हैं, रुक जायगे।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि फिर भी समाज मे बहुत-से लोग ऐसे

बने ही रहेगे—आप चाहे तो उन्हे रोगी कह सकते है—जो समाज के लिए खतरनाक होगे। क्या यह आवश्यक नही है कि हम लोग उनसे छुटकारा पा ले ? या कम-से-कम उन्हे औरो को हानि पहुँचाने से रोके ?

कोई भी समाज—चाहे कितना ही कम-समझ क्यो न हो—इस ऐसे ऊट-पटाग समाधान को मजूर नही करेगा। उसका कारण भी सुन लीजिये। पुराने जमाने मे यह समझा जाता था कि पागलो पर शैतान आता था, इसलिए उनके साथ उसीके अनुसार वर्ताव भी किया जाता था, वे लोग जगली पशुओ की भाति जजीरो मे जकडकर अस्तबल की दीवारो मे बाध दिये जाते थे। मगर महान् क्रातिकारी पाइनेल ने उनकी जजीरे खोलकर उनके साथ भाई की भाति व्यवहार करने की चेष्टा की। पागलो के रक्षको ने कहा—"वे तुम्हे निगल जायगे।" मगर पाइनेल ने उनकी बातो की परवाह न की और साहसपूर्वक इन पागलो को अपनाया। फल यह हुआ कि वे लोग, जो पहले जानवर समझे जाते थे, वे सब पाइनेल के चारो ओर आकर एकत्रित होने लगे। इस प्रकार उन लोगो ने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि चाहे मनुष्य की बुद्धि रोग से आच्छादित क्यो न हो गई हो, फिर भी मानव-स्वभाव के उत्तम अशो पर विश्वास करना ठीक है। इसके वाद पाइनेल का आन्दोलन सफल हो गया, और तभी से पागलो को जजीर मे बाधना बन्द हो गया।

इसके वाद बेल्जियम के घील नामक एक छोटे ग्राम के किसानो ने कुछ और भी अच्छी वात निकाली। उन्होने कहा—"तुम लोग अपने पागलो को हमारे यहा भेज दो। हम उन्हे पूरी स्वतत्रता दे देगे।" उन्होने उन्हे अपने कुटुम्वो मे शामिल कर लिया और उन्हे अपनी मेज पर स्थान दिया। वे मौके-मौके पर उन्हे अपने खेत जोतने मे साथ ले जाने लगे और नाच-तमाशे मे उन्हे सम्मिलित करने लगे। उनका कथन था—"हम लोगो के साथ खाओ, पियो और नाच-तमाशे मे सम्मिलित हो। तुम्हारी तबीयत चाहे तो काम करो, या मैदान मे दौड लगाओ। जो चाहो करो, तुम एकदम स्वतत्र हो।" वस, बेल्जियम के किसानो का यहीं सिद्धात और यही प्रणाली थी।

मैं यह आरम्भिक काल की बात कहता हूँ। आजकल तो घील मे पागलो का इलाज एक खासा पेशा हो गया है। जब कोई बात पैसे के लिए पेशा वना डाली जाती है तब उसमे कोई तत्त्व नही रह जाता। इस स्वतत्रता ने जादू-कैसा असर किया। पागल लोग अच्छे हो गए। यहातक कि उन लोगो का, जिनका विकार असाध्य था, व्यवहार भी मधुर हो गया और वे कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियो की भाति शासन मानने के योग्य हो गए। रुग्ण मस्तिप्क तो सदा अस्वाभाविक रीति से काम करता था, मगर उन लोगो का हृदय ठीक था। वे कहने लगे कि यह एकदम जादू की भाति था। लोग कहने लगे कि रोगियो का रोग-मोचन एक देवी और देवता की कृपा से शात हुआ था, मगर असल मे देवी स्वतंत्रता देवी थी और देवता था खेतो का काम और भाईचारे का व्यवहार।

माड्स्ले कहता है—"पागलपन और अपराध के वीच मे एक विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र के एक सिरे पर स्वतत्रता और वन्धुभाव ने अपना जादू कर दिखाया है, अत उसके दूसरे सिरे पर भी वे वैसा ही कर दिखायेगे।"

जेलखाने समाज-विरोधी कर्मो को होने से नही रोक सकते। वे उन कार्यो की सख्या मे वृद्धि करते है। वे जेलखाने उन लोगो का, जो उनमे जाते है, कोई सुधार नही कर सकते। जेलो मे चाहे जितना सुधार किया जाय, वे सदा कैदखाने ही रहेगे। उनका वातावरण मठो की भाति कृत्रिम ही रहेगा और वे कैदियो को उत्तरोत्तर सामाजिक जीवन के अयोग्य वनाते रहेगे। जेलखाने अपने उद्देश्य को पूरा नही करते। वे समाज का पतन करते है। उनका नाम ही मिटा देना चाहिए। वे पाखडपूर्ण उदारता-मिश्रित वर्वरता के अवशेप है।

जेलखाने मनुष्य की मक्कारी और कायरता के कीर्तिस्तभ है। क्राति का सवसे पहला कर्त्तव्य इन जेलो को तोडना होगा। स्वतत्र आदमियो मे, जिन्हे पारस्परिक सहायता देने की स्वाभाविक शिक्षा मिल चुकी है, तथा समतापूर्ण समाज मे समाज-विरोधी कार्यो से डरने की आवश्यकता ही रह जायगी। वहुत वडी सख्या मे इन कार्यो के होने का कोई कारण ही न

रह जायगा। जो थोडे-वहुत कार्य वच रहेगे, वे आरम्भ ही मे दवा दिये जायगे।

कुछ लोगो मे बुराइयो की ओर प्रवृत्ति होती है। क्रांति के पश्चात् वर्त्तमान समाज उन्हे हम लोगो के सिपुर्द कर देगा तब यह हमारा काम होगा कि हम उन्हे अपनी उन प्रवृत्तियो का व्यवहार करने से रोक। यह देखा जा चुका है कि यदि समाज के सब लोग ऐसे अपराध करनेवालो के विरुद्ध सगठित हो जाय, तो ये अपराध आसानी से रोके जा सकते है।

यदि इन मामलो मे हम लोग सफल न हो, तव भी बन्धुभाव और नैतिक सहायता ही उनके सुधार के क्रियात्मक उपाय रहेगे।

यह कोई काल्पनिक बात नही है। इक्के-दुक्के लोग इसे करके दिखा चुके है। उस समय यह एक आम वात हो जायगी। वर्त्तमान दण्ड-प्रणाली की अपेक्षा, जो नये अपराधो के लिए वडी उपजाऊ भूमि है, ये उपाय समाज-विरोधी कार्यो से समाज की रक्षा करने मे कही अधिक शक्तिशाली होगे।

: ६ :

# कानून और सत्ता

"जव जनता अज्ञान के अधकार मे होती है और आदमियो के दिमाग उलझे हुए होते है, तो कानूनो की सख्या वढा दी जाती है और प्रत्येक कार्य शासन-व्यवस्था के सुपुर्द कर दिया जाता है। चूकि हर कानून एक नई भ्राति होती है, जनता कानून से उस चीज की आशा करती है, जो खुद उसके द्वारा, उसकी अपनी शिक्षा और जीवन से ही उद्भूत हो सकती है।"

ये वाक्य किसी क्रान्तिकारी के नही है, सुधारक के भी नही। ये शब्द है डिलोय नामक एक कानूनदा के, जिसने फ्रासीसी कानूनो को वनाया है। ये विचार उस आदमी के है जो खुद कानूनो का निर्माता और प्रशसक था। फिर भी ये शब्द हमारे समाज की अनियमित दशा का सच्चा चित्र खीचते है।

वर्त्तमान समाज मे जनता इस आशा मे रहती है कि उसके कष्टो का निवारण एक नये कानून के बनते ही हो जायगा। किसी अहितकर और कष्टदायक चीज को स्वय बदल डालने के बजाय, जनता उसमे परिवर्त्तन करने के लिए कानून की माग करती है। यदि दो गावो के बीच सडक अच्छी हालत मे नही है तो किसान कहता है, "देहाती सडको को ठीक करने के लिए एक कानून बनना चाहिए।" अगर एक जमादार अपने अधीनस्थ मजदूरो की गुलामी की मनोवृत्ति अथवा निर्जीव अवस्था का बेजा फायदा उठाकर उनमे से किसी एक की बेइज्जती कर देता है तो अपमानित व्यक्ति कहता है, "जमादारो को अधिक शिष्ट बनाने के लिए एक कानून होना चाहिए।" यदि कृषि अथवा व्यवसाय मे मन्दी है तो किसान और व्यापारी कहते है—"एक सरक्षण कानून की हमे आवश्यकता है।" बडे-बडे व्यापारियो से लेकर एक छोटे जुलाहे तक ऐसा कोई भी व्यक्ति नही, जिसको उसके बडे अथवा छोटे रोजगार की रक्षा के लिए कानून की जरूरत न हो। अगर मिल मालिक मजदूरी की दर घटा देता है, अथवा काम के घटे बढा देता है, तो राजनैतिक नेता इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इस प्रकार के सब अन्यायो को रोकने के लिए एक कानून बनना चाहिए। सक्षेप मे प्रत्येक चीज को ठीक करने के लिए बस एक कानून चाहिए। एक कानून पेंशनो के लिए चाहिए, पागल कुत्तो को मारने के लिए भी एक कानून की दरकार है, मनुष्य को नैतिकता सिखलाने के लिए एक कानून हो, और एक उन सब बुराइयो को भी दूर करने के लिए, जिनका कारण स्वय मनुष्य की कायरता और काहिली है।

इस मनोवृत्ति के कारण क्या है? हमारी शिक्षा, जो बचपन से ही हमारी क्रान्ति की भावना को कुचलती रहती है और सदा सत्ता के आगे झुकना सिखाती है। हमारा यह समाज भी इसके लिए कम जिम्मेदार नही। जन्म से लेकर मृत्यु तक—हमारी शिक्षा, विकास, प्रेम, सम्बन्ध, मैत्री—सभी सामाजिक सम्बन्ध किसी-न-किसी कानून से नियमित होते है। फल यह हुआ है कि हम लोग गुमराह हो गए है और अगर यही स्थिति कायम रही

तो हम अपनी सब प्रेरक शक्तिया, यहातक कि अपना विवेक भी खो देगे। आज तो हमारा समाज यह भी नही सोच पाता कि विना कानून के शासन के, प्रजातत्रीय सरकार और चद शासको के बगैर, वह जीवित भी रह सकेगा कि नही। अगर समाज दासता के कारागार से मुक्त भी हो गया, तो उसका सबसे पहला कार्य हुआ—'कारागार का पुनर्निर्माण'। फ्रासीसी राज्यक्राति के वाद 'स्वाधीनता का प्रथम वर्ष' एक दिन से अधिक नही चल सका, क्योकि उसकी घोषणा करने के दूसरे दिन ही जनता ने अपने को कानून और सत्ता के अधीन सौप दिया।

सचमुच हजारो वर्षों से हमारे शासको ने केवल एक ही वात हमारे कानो मे दुहराई है—'कानून का आदर करो—सत्ता की आज्ञा मानो।' इसी वातावरण मे माता-पिता अपने बच्चो को पालते है। स्कूल भी इन्ही विचारो को पल्लवित करते है। कृत्रिम विज्ञान के विच्छन्न भागो को वच्चो के सामने इस चालाकी से रखा जाता है कि मानव-जीवन के लिए कानून की आवश्यकता प्रकट हो। 'कानून की आज्ञा मानना' धर्म वना दिया जाता है। नैतिकता और अध्यापको की आज्ञाओ को अभिन्न कहकर—उन्हे 'दैवी' करार दिया जाता है। स्कूल मे वह विद्यार्थी अच्छा माना जाता है जो कानूनो के अनुसार चलता है और कानून के खिलाफ वगावत करनेवालो का विरोध करता है।

इसके वाद जव ये वालक सामाजिक जीवन मे प्रवेश करते है, तो समाज और साहित्य प्रत्येक क्षण उन्ही धारणाओ को दृढ करते रहते है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पानी का निरन्तर प्रवाह पत्थर मे गड्ढा कर देता है। इतिहास, राजनीति तथा अर्थशास्त्र की पुस्तके इसी कानून के प्रति श्रद्धा से ही तो भरी है। और-तो-और, भौतिक शास्त्र भी, जो दृष्टिगोचर वस्तुओ पर आधारित ज्ञान है, उसमे भी अर्थशास्त्र के कृत्रिम सिद्धान्तो का प्रवेश कर उसे इस कार्य मे सहायक वना दिया गया है। इस प्रकार कानून के प्रति श्रद्धा वनाए रखने के लिए, समाज ने हमारे विवेक को ही भूल-भुलैयो में डाल दिया है। अखवार भी यही काम करते है। उनमे कोई भी लेख ऐसा

नही होता जो कानून के लिए आदर की शिक्षा न देता हो, फिर चाहे अगले कालम मे ही कानून की निष्क्रियता के प्रमाण दीख पडे और यह स्पष्ट हो जाय कि शासक कानून को किस प्रकार दलदल मे घसीटते है। इस सबका नतीजा यह हुआ है कि कानून की गुलामी एक गुण हो गया है। मुझे तो शक है कि शायद ही कोई ऐसा क्रातिकारी रहा होगा, जिसने अपने प्रारम्भिक जीवन मे कानूनो की 'रक्षा' की बात न की हो, और उसी सास मे 'कानून' के दोषो के विरुद्ध आवाज न उठाई हो—इस तथ्य को वे भूल जाते है कि ये दोष तो कानून के अवश्यम्भावी परिणाम है।

कला भी विज्ञान के साथ स्वर-मे-स्वर मिलाती है। मूर्तिकार, चित्रकार अथवा सगीतज्ञ अपनी कलम अथवा छेनी से कानून की रक्षा करते है और कानून के विरोध मे सिर उठानेवालो को दबाने के लिए सदा तत्पर और उत्सुक रहते है। कानून की देवी के लिए मन्दिर बनाए जाते है। तथाकथित क्रातिकारी उस देवी के पुजारियो पर हाथ उठाने से डरते है। और क्रान्ति किसी प्राचीन व्यवस्था को ढहाती है, तो ये क्रान्तिकारी एक नये कानून द्वारा ही उस क्रिया को पवित्र करते ह।

ोजमर्रा के व्यवहार को सचालित करने के लिए नियमो का यह अस्त-व्यस्त ढेर—जिसे हम कानून कहते है—हमे गुलामी, सामन्तशाही और राजशाही से विरासत मे मिला है। अब तो इसने उन पत्थर के दैत्यों का रूप ले लिया है, जिनके सामने मनुष्य की वलि दी जाती थी और जिनको असभ्य आदमी इस डर से स्पर्श भी नही करते थे कि कही उनके ऊपर वज्र न गिर पडे।

कानून की यह नई उपासना मध्यवर्ग के हाथ मे सत्ता आने के वाद—यानी फ्रास की राज्यक्राति के वाद—विशेष सफलतापूर्वक स्थापित हुई है। प्राचीन व्यवस्था मे आदमी कानून की चर्चा कम करता था। हा मौटेस्क्यू, वॉलटेयर, रूसो आदि अवश्य वादशाही स्वेच्छा के विरोध मे कानून का नाम लेते थे। उन दिनो राजा अथवा उसके दासो की आज्ञा मानना आवश्यक था अन्यथा सजा अथवा फासी थी। लेकिन क्राति के दौरान मे और उसके वाद

जब वकीलो के हाथ मे शक्ति आई, तो उन्होने कानून की पवित्रता स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया—इसीके ऊपर उनकी उन्नति निर्भर थी। मध्यवर्ग ने आप जनता के विद्रोह को रोकने के लिए कानून का ही सहारा लिया। जनता के क्रोध और क्षोभ से बचने के लिए धार्मिक पुजारियो ने तुरत ही इस कानून को पवित्र भी घोषित कर दिया। और अन्त मे भोली-भाली जनता ने भी, वर्त्तमान व्यवस्था को पहले की हालत से बेहतर समझकर, स्वीकार कर लिया।

सम्पूर्ण स्थिति को भली-भाति हृदयगम करने के लिए हमे कल्पना द्वारा १८वी शताब्दी मे पहुचना होगा। फ्रास की राज्यक्रान्ति से पूर्व की स्थिति तो सर्वविदित है। सामन्तो द्वारा निरीह जनता पर अनगिनत जुल्म ढहाये जाते थे। उस भयावह स्थिति मे, वास्तव मे किसान को इन शब्दो से बडी राहत मिली होगी—'कानून के सामने सब बराबर है—प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को कानून की समान रूप से आज्ञा माननी चाहिए।' गरीबो के साथ जानवरो से भी बदतर व्यवहार किया जाता था। 'अधिकार' शब्द से वे अनभिज्ञ थे। अपने मालिक के अत्यन्त घृणास्पद और वाहियात कारनामो के विरोध मे उन्हे कभी न्याय नसीब नही हुआ था, बस एक ही उपाय उनके पास था कि वे उसे मार डाले और स्वय फासी पर चढ जाय। अब जनता ने देखा कि इस नई घोषणा द्वारा—चाहे सिद्धान्त मे ही सही—उसके और मालिको के अधिकार समान है। चाहे यह कानून कुछ भी हो, इसके द्वारा आशा बधी थी कि मालिक और किसान के ऊपर इसका प्रभाव समान रूप से पडेगा, न्यायाधीश के सामने गरीब और अमीर कानून के अनुसार बराबर होगे। आज हम जानते है कि यह आशा कितनी थोथी थी। लेकिन उस जमाने मे तो यह कदम उन्नति की ओर था। इस प्रकार न्याय की अर्चना की गई—उसी तरह जिस तरह कपट द्वारा सत्य की आराधना की जाय। यही कारण है कि जब भयभीत मध्यवर्ग के रक्षको—रौब्सपियरो और डान्टनो ने रूसो और वॉलटेयर प्रभृति लेखको की रचनाओ का आश्रय लेकर घोषणा की कि 'कानून का आदर करो—प्रत्येक के लिए कानून समान है'—तो

जनता ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया। जनता का क्रातिकारी जोश अपने प्रचण्ड दुश्मनो से लडते-लडते लगभग शात हो गया था। इसलिए उसने कानून के जुए के आगे अपनी गर्दन झुका दी, ताकि वे सामन्तो की तानाशाही से तो बच सके।

मध्यवर्ग इस सिद्धान्त का विस्तार करता गया और इससे बेजा फायदा उठाता रहा। 'प्रजातत्रीय सरकार' और 'कानून का आदर' बस इन दो शब्दो मे ही, मध्यवर्ग के युग—यानी १९वी शताब्दी—का सम्पूर्ण दर्शन समाया हुआ है। मध्यवर्ग ने इन्ही सिद्धान्तो का विद्यालयो के द्वारा प्रचार किया। अपने कला और विज्ञान को भी इसी कार्य मे लगाया है। सक्षेप में अपने विश्वासों का प्रचार करने के लिए उसने कोई साधन अछूता नही छोडा। और यह सब इस वर्ग ने इतनी सफलतापूर्वक किया है कि आज गुलाम और पराधीन व्यक्ति अपने मालिको से विनम्र प्रार्थना करते है कि वे कृपया कानूनो को सशोधित कर उनकी रक्षा करे, उन्ही कानूनो को, जिन्हे इन स्वार्थी मालिको ने स्वय बनाया था।

लेकिन अब जमाना बदल रहा है, जनता कुछ समझने लगी है। हर जगह विद्रोह के लक्षण प्रकट हो रहे है। जनता कानून की आज्ञा मानने के पहले सवाल करती है कि कानून बना कैसे ? उसकी उपयोगिता क्या है ? और इसके मानने की जरूरत क्या है ? आज तो समाज के पवित्रतम आधारो की आलोचना हो रही है और उनमे सबसे पहली चोट इस कानून के ऊपर ही है।

कोई विवेकशील व्यक्ति यदि कानून के उद्गम की खोज करे तो उसे मालूम होगा कि असभ्य लोगो के डरो से उद्भूत देवता और उनके अलौकिक होने की गारटी करनेवाले कुछ धूर्त, स्वार्थी और चालाक पुजारी ही कानून की जड पर है। या फिर रक्तपात, तलवार और आग द्वारा विजय से कानून का प्रारम्भ हुआ। यदि कानून का जरा गहरा अध्ययन किया जाय, तो मालूम होगा कि वह मानव-समाज की भाति विकासशील नही, वरन् स्थिर है—मानव-समाज के विभिन्न परिवर्त्तनो के साथ सशोधित और

परिर्वातित होना कानून के लिए असम्भव है। अब जरा कानून की व्यवस्था के विकास का अध्ययन करे। बाइज़ैन्टान जैसो के अत्याचार, धार्मिक गुरुओ द्वारा दी गई यातनाए, मध्ययुग के अमानुषिक अत्याचार, जल्लादो द्वारा जीवित मास का उतारना, लोहे की जजीरो, हथकडी, जेल की मनहूस कोठरियो, दु ख, शाप और ऑसू—इन सबने मिलकर कानून की व्यवस्था का पोषण किया है। आज भी पहले की भाति ही कानून हथकडी, बन्दूक और जेल के बल पर चल रहा है।

और कानून के प्रभाव को भी देख लीजिये। एक ओर है कैदी—जिसे जानवर बना दिया गया है—उसकी सारी मनुष्यता और नैतिकता छीनकर उसे पिंजडे का जन्तु बना दिया गया है—और दूसरी तरफ है न्यायाधीश, जो मनुष्य के सम्पूर्ण स्वाभाविक गुणो को छोडकर कानून की मसनूई दुनिया मे विचरण कर रहा है। इसे जेल और फासी की सजा देने मे ही आनन्द आरहा है, अपने निर्मम पागलपन मे वह एक क्षण के लिए नही सोच पाता कि जिनको वह सजाए दे रहा है, उनकी नजरो मे स्वय उसका कैसा गहरा पतन हो गया है।

कानून बनानेवालो का एक बडा समुदाय पैदा हो गया है। वे कानून बनाते ही चले जाते है—एक क्षण के लिए भी नही सोचते कि आखिर ये कानून है किसलिए? स्वच्छता के नियमो से नितान्त अनभिज्ञ होते हुए भी ये आज शहरो की सफाई के कानून बनाते है, कल फौज के लिए अस्त्र-शस्त्रो का कानून बनाते है—जब वे स्वय इतना भी नही जानते कि बन्दूक क्या बला है। वे लोग जो स्वय कभी एक दिन के लिए भी अध्यापक नही रहे, शिक्षा और अध्यापन के विषय मे कानूनो की रचना करते है। इस प्रकार हर चीज के लिए कानून बनते चले जाते है—बस निर्माताओ का सिर्फ एक बात की ओर निरन्तर ध्यान बना रहता है—गरीबो के लिए जेल और फासी की व्यवस्था। और वास्तव मे जिन लोगो को ये सजाए दी जाती है, वे इन कानून बनानेवालो से हजार दर्जे कम अनैतिक है।

कानून के परिणामो की अन्तिम कड़िया है जेलर, जो अपने सब

मानवीय भावो को दिन-प्रति-दिन छोडता जा रहा है, जासूस, जिसे शिकारी कुत्ता वना दिया गया है, और खुफिया पुलिस का आदमी,जो स्वय से ही घृणा करने लगा है। चुगली को गुण मान लिया गया है और भ्रष्टाचार व्यवस्थित कर दिया गया है। इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्य-समाज की सम्पूर्ण बुराइयो और कमजोरियो को सवर्धन और प्रोत्साहन दिया गया है, जिससे कानून की विजय हो सके। हमे कानून के ये परिणाम स्पष्ट दीख रहे है और इसीलिए वजाय पुराने सिद्धान्त के निरर्थक रहने के कि "कानून का आदर करो" हम घोषणा करते है—"कानून और उसके सरजाभ से घृणा करो!" "कानून की आज्ञा मानो"—इस कायरतापूर्ण वाक्य के स्थान पर हमारी आवाज है—"सब कानूनो के खिलाफ विद्रोह कर दो!"

आप केवल एक बार मानव-समाज के ऊपर कानून के उपकारो और उसके नाम पर किये गए दुष्कृत्यो और अनाचारो का तुलनात्मक अध्ययन कर लीजिये और फिर आपको निर्णय करने मे देर न लगेगी कि सत्य क्या है।

यदि हम इतिहास देखे तो मालूम पडेगा कि कानून नैसर्गिक नहीं, वरन् आधुनिक युग की देन है। अनेक युगो तक विना किसी लिखित कानून के मनुष्य समाज का कार्य सुगमतापूर्वक चलता रहा—उन दिनो मन्दिरो के ऊपर खुदे हुए अक्षर भी नही थे। मानव-समाज के वीच आपसी सम्बन्धो का नियमन केवल रीति-रिवाजो द्वारा होता था और ये रीति-रिवाज निरन्तर व्यवहार मे आने के कारण पवित्र हो गए थे, प्रत्येक व्यक्ति वचपन ही मे इन्हे सीख लेता था—उसी तरह जिस तरह वह शिकार, खेती अथवा गोपालन द्वारा अपने भोजन को प्राप्त करना सीखता था।

सम्पूर्ण मानव-समाज इस पुरातन युग मे से गुजरा है और आज भी मानव-समाज के एक वडे भाग के पास कोई लिखित कानून नही है। इनमे प्रत्येक के पास अपने स्वय के लोकसिद्ध रीति-रिवाज है, उसके कुछ सामाजिक व्यवहार है, जो उस जाति के आदमियो के वीच ठीक सम्वन्ध वनाए रखने के लिए काफी है। हमारे सभ्य राष्ट्रो मे भी, अगर हम वड़े शहरो से

हटकर गावो मे जाय तो देखेंगे कि वहा के निवासियो के आपसी सम्बन्ध पुरानी और लोकसिद्ध रीतियो के आधार पर ही चलते है, व्यवस्थापिका सभाओ ारा निर्मित कानून वहा फिजूल है। रूस, इटली, स्पेन के किसानों को—फ्रास और इग्लैण्ड के भी अधिकाश किसानो को—लिखित कानून की कोई कल्पना नही। यह कानून तो उनके जीवन मे निरर्थक ही आ टपकता है। उनके आपसी सम्बन्ध—और कभी-कभी तो ये बडे जटिल होते हैं—सदा पुरानी रीतियो के अनुसार ही चलते है। और हम देख चुके है कि प्राचीन युग मे तो सम्पूर्ण मानव-समाज का इसी भाति सचालन होता था।

प्राचीन काल के समाज के रस्म-रिवाजो का यदि हम अध्ययन करें तो हमे दो भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्थाए दीखती है।

चूकि मनुष्य स्वभावत सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसमें कुछ ऐसी आदतो और भावनाओ का विकास हो जाता है जो समाज को जीवित रखने और जाति के सवर्धन के लिए आवश्यक व लाभदायक है। यदि मनुष्य में सामाजिक भावनाओ का अभाव होता तो सम्मिलित जीवन ही असम्भव था। ये सामाजिक भावनाए कानूनो द्वारा नही आई, वे तो कानूनो के जन्म के पहले की है, और न वे धर्म के कारण है—धर्मों के पूर्व भी वे थी। ये सामाजिक भावनाए तो प्राणि-मात्र मे विद्यमान है। वे स्वय विकसित होती है, उसी भाति जिस तरह जानवरो में सहज ज्ञान आ जाता है। वास्तव में ये सामाजिक भावनाए तो विकास के सिद्धान्त के अनुसार उद्भूत है, ताकि समाज अपने जीवन-सघर्ष में एक बना रह सके। असभ्य जातिया अपना अन्त जाति में ही एक-दूसरे को खाकर नही कर लेती। वे जानती है कि अन्तत यह कही अधिक लाभदायक होगा कि वे खेती करें, बजाय इसके कि वे साल में एक दफा अपने किसी वृद्ध सम्बन्धी को खा लें। अनेक यात्रियो ने बिल्कुल स्वतन्त्र जातियो के सगठन का वर्णन किया है, उनमे न कोई सरदार है और न कानून। उन्होने लिखा है कि इन जातियो के आदमियो ने आपसी झगडो में एक-दूसरे को मार डालना छोड दिया है। इसका कारण है सामूहिक जीवन के अवश्यम्भावी परिणामस्वरूप उनमे भ्रातृत्व और एकता की

भावनाए विकसित हो गई है। और अब वे अपने झगडो को सुलझाने के लिए एक तीसरे व्यक्ति की सहायता लेना अधिक अच्छा समझते है। आतिथ्य-भावना, मनुष्य-जीवन के प्रति श्रद्धा, प्रत्युपकार करने की इच्छा, कमजोर के प्रति दया, साहस—यहांतक कि दूसरो के लिए स्वय अपने को बलिदान करने की भावना (जिसका प्रारम्भ अपने बच्चो और मित्रो से होकर अन्त मे सम्पूर्ण समाज के लिए हो जाता है)—ये सब गुण मनुष्य मे—अन्य सामाजिक प्राणियो की भाति कानूनो से पहले और विना किसी धर्म के—विकसित होते है। इस तरह की भावनाए और रीतिया सामाजिक जीवन की अवश्यम्भावी परिणाम है। वे मनुष्य मे नैसर्गिक नही, जैसाकि पुरोहित और आध्यात्मिक लोग बतलाते है, बल्कि वे सामूहिक जीवन के परिणाम-स्वरूप है।

सामाजिक जीवन और जाति की रक्षा के लिए आवश्यक इन रीतियो के साथ-ही-साथ कुछ दूसरी तरह की इच्छाए, आदते और रीतिया भी विकसित हो जाती है। दूसरो के ऊपर हुकूमत करने और अपनी इच्छा थोपने की कामना, निकटवर्ती जाति की मेहनत की उपज को लूटने की लिप्सा, अपने लिए भोग-विलास की सामग्री इकट्ठा करने का मोह—ये सब स्वार्थी इच्छाए—एक दूसरी प्रकार की आदतों और रीतियो को जन्म देती है। पुरोहित और धूर्त पडित, जो जनता के मिथ्या विश्वासो से फायदा उठाते है, तथा जो स्वय शैतान के भय से मुक्त रहकर उसे दूसरों मे विकसित करते है और सिपाही, जो पडोसियो के ऊपर हमले और लूटमार कराते है, ताकि वे स्वय युद्ध से धन और दास लेकर लौट सके, इन दो वर्गो ने मिलकर समाज के ऊपर ऐसी रीतिया थोप दी है जो इनके स्वय के लिए तो लाभ-दायक है, लेकिन जनता को गुलामी की जजीरो से कस देती है। जन-साधारण के भय, आलस्य और अकर्मण्यता से फायदा उठाकर पुरोहित और सिपाही ने ऐसी असामाजिक रीतियो को समाज में पूर्णत. स्थापित कर दिया है और इस प्रकार अपनी सत्ता को स्थायी कर लिया है। इस कार्य में इन पुरोहितो और सिपाहियो ने परम्परा के प्रति जनता की श्रद्धा से पूरा लाभ उठाया

होगा। बच्चो और असभ्य जातियो मे यह प्रवृत्ति हद दर्जे तक पाई जाती है। जानवरो मे भी यह मौजूद रहती है। जहा मनुष्य मे थोडा भी अन्ध-विश्वास आया वह स्थापित व्यवस्था मे नई चीजो के प्रवेश से डरने लगता है और जो-कुछ भी परम्परागत है, उसको पवित्र मानकर वह उसकी पूजा करने लगता है। युवक जब कभी मौजूदा व्यवस्था मे परिवर्त्तन की इच्छा प्रकट करते है तो वृद्ध उनसे यही कहते है—"हमारे पूर्वज ऐसा ही करते चले आये है—उन्होने तुम्हे पाला-पोसा, वे खूब सफल रहे, इसलिए अब तुम भी वैसा ही करो।" किसी भी अज्ञात और अपरिचित चीज से उन्हे डर लगता है, और वे अपने भूत से ही चिपके रहना चाहते है—चाहे उस भूत के मानी गरीबी, गुलामी और अत्याचार ही क्यो न हो।

यह भी कहा जा सकता है कि जितनी हीन और गिरी अवस्था मे मनुष्य होता है, उतना ही अधिक वह प्रत्येक प्रकार के परिवर्त्तन से डरता है। उसे शका रहती है कि कही उसकी हालत और भी बदतर न हो जाय। इसके पूर्व कि मनुष्य पुरानी व्यवस्था को भी खतरे मे डालने का साहस कर सके, और श्रेष्ठतर व्यवस्था की इच्छा कर सके, यह आवश्यक है कि उसके निराश वातावरण मे आशा की एक किरण प्रवेश करे। जबतक उसमे आशा का सचार नही होता और जबतक वह उन लोगो की गुलामी से मुक्त नही होता, जो उसके अधविश्वास और भय से फायदा उठा रहे है, वह अपनी पहली हालत मे ही रहना अधिक पसन्द करता है। अगर उनमे से कुछ युवक परिवर्त्तन की आकाक्षा करते है तो उनके वृद्ध लोग युवको का विरोध करते है। कुछ असभ्य जातियाँ तो जीवन त्याग देगी, लेकिन अपनी पुरानी रीतियो को छोडेगी नही, क्योकि अपनी बाल्यावस्था से ही वे सुनती आ रही है कि स्थापित व्यवस्था मे किंचित परिवत्तन के कारण भी, उनके ऊपर अपार दु ख पडेगे और उनकी सम्पूर्ण जाति नष्ट हो जायगी। आज भी अनेक राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री और तथाकथित क्रान्तिकारी इन्ही सस्कारो के प्रभाव मे काम करते है और नष्टप्राय भूत से चिपके रहना चाहते है। बहुतेरे इस प्राचीन व्यवस्था में ही आदर्शो की खोज करते है और अनेक क्रान्तिकारी

केवल पिछली क्रान्तियो का अध्ययन कर उनकी नकल करने के प्रयत्न में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते है ।

परम्परा की भावना का जन्म अधविश्वास, अकर्मण्यता और कायरता से होता है । यही भावना अत्याचारो का आधार-स्तम्भ रही है । पुरोहितो और सिपाहियो ने इस भावना का खूब फायदा उठाया । उन्होने उन्ही रीतियो को बढावा दिया जो स्वय के लिए लाभदायक थी और फिर उनको सम्पूर्ण जाति के ऊपर थोप दिया । इसी भावना का फायदा उठाकर नेताओ ने गरीबो की व्यक्तिगत स्वतत्रता छीन ली । लेकिन जबतक मनुष्यो के बीच असमानताए केवल कार्यविधि पर निर्भर थी और वे शक्ति तथा धन के केन्द्रीकरण के कारण कठोर और स्थायी नही हुई थी, कानून तथा उसके भयावह सरजाम—यानी न्यायाधीश और जेलो की कोई आवश्यकता नही थी ।

लेकिन जैसे ही समाज दो परस्पर विरोधी वर्गों मे विभाजित हो गया, जिसमे एक आधिपत्य जमाने की और दूसरा उससे बचने की कोशिश करता, विग्रह का सूत्रपात हो गया । अब विजेता को युद्ध मे प्राप्त लूट को स्थायी बनाने की चिन्ता हुई और तदर्थ उसने लूट की सम्पत्ति को झगडे से परे करने के लिए उसे पवित्र और आदरणीय बनाने का प्रयत्न किया । पुरोहित ने समे योग दिया और उसने लूट को जायज और पवित्र घोषित कर दिया । सर्वप्रथम कानून का इस प्रकार उदय हुआ । इस कानून का प्रधान उद्देश्य था—ऐसी रीतियो को स्थायी करार देना, जो सत्ताधारियो के फायदे की थी । सैन्य बल द्वारा इस कानून की आज्ञापालन कराई गई । इस कानून ने सिपाही की शक्ति को और भी मजबूत बना दिया, अब उसके पास केवल पाशविक बल ही नही था—वह कानून का रक्षक भी हो गया ।

यदि कानून मे केवल शासको के लाभ की बाते होती तो उसके स्वीकृत और पालन कराने मे थोडी असुविधा होती । इसलिए व्यवस्थापको ने रीतियों की दोनो धाराओ को एक ही शास्त्र (कोड) मे रख दिया । पहले नैतिकता और एकता की भावना के सिद्धान्त, जो सामूहिक जीवन के कारण

उत्पन्न हुए थे, रखे गए, और इनके साथ ही वे आज्ञाएं लिपिबद्ध कर दी गईं ज़ो असमानता को स्थायी करने के लिए प्रचारित की गई थी। इस प्रकार ये रीतिया जो समाज के जीवित रखने के लिए नितान्त आवश्यक थी, शास्त्र (कोड) मे बडी ही चालाकी से उन आज्ञाओ के साथ मिला दी गईं जो शासको ने समाज के ऊपर थोप दी थी। फिर जनता से इन दोनो प्रकार की रीतियो का समान रूप से आदर करने को कहा गया। शास्त्र कहता है—"किसीको मत मारो" और उसके बाद तुरन्त ही लिखा है—"और पुरोहित को टैक्स दो।" शास्त्र मे लिखा है, "चोरी मत करो" और इसी का उत्तरार्ध है—"जो टैक्स देने से इन्कार करेगा उसके हाथ काट डाले जावेंगे।"

कानून के विकास की यही कथा है और उसकी यह दुरगी प्रकृति अब तक कायम है।

हमने देखा कि कानून का उद्गम शासक वर्ग की इस इच्छा मे है कि वे रीतिया, जो उसके स्वय के लिए लाभदायक है और इसलिए जनता के ऊपर थोप दी गई है, सदैव बनी रहे। और इस कानून-शास्त्र की विशेषता यह है कि वे रीतिया जो समाज के लिए लाभदायक है और समाज मे जिनके समाहृत होने के लिए कानून की जरूरत नही, उन दूसरी रीतियो के साथ मिला दी गई जो केवल शासको के स्वार्थ की है, जनता के लिए हानिकारक है और जो इसलिए केवल सजा के डर से ही चल सकती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और कानून एक बात मे बिलकुल समान है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हिसा और दगाबाजी मे और विकास सत्ता के सरक्षण मे होता है। और जनता इन दोनो को कभी भी आदर की दृष्टि से नही देख सकती। जिस दिन जनता अपनी गुलामी की जजीरो को तोडने का निश्चय करेगी, हिसा और अवविश्वास से उत्पन्न तथा पुरोहित और शोषक अमीरो द्वारा सवर्धित इस कानून को तहस-नहस कर देना होगा। हमे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी—जब हम तत्त्व निरूपण करके देखेगे कि किस प्रकार धर्म, सत्ता और वर्त्तमान प्रजातत्रीय सरकार

के संरक्षण में कानून का विकास हुआ है।

हम देख चुके है कि किस प्रकार स्थापित रीति-रिवाजो मे से कानून की उत्पत्ति हुई और कैसे प्रारम्भ से ही कानून मे मानव समाज की प्रगति के लिए आवश्यक सामाजिक आदते उन रीतियो के साथ मिला दी गई जो कुछ स्वार्थी व्यक्तियो ने जनता के अधविश्वास का फायदा उठा कर अपनी सत्ता जमाने के लिए समाज पर थोप दी थी। आगे चलकर राज्य के विकास के दौरान मे कानून के इस दुरगेपन ने उसके विस्तार को प्रभावित किया है। जहा सामाजिक जीवन के लिए लाभदायक और आवश्यक सिद्धान्तो मे बहुत थोडा परिवर्त्तन किया गया है, वहा कानून के दूसरे भाग को तत्कालीन शक्तिशाली वर्ग के स्वार्थ-लाभ के लिए खूब विकसित किया गया है।

समय-समय पर इस सत्ताधारी वर्ग ने शोषित जनता के विद्रोह करने पर ऐसे कानून भी दे दिये है जो पिसते हुए समाज को संरक्षण देते प्रतीत होते है। लेकिन इस प्रकार के कानूनो ने केवल पुराने शोषक कानूनो का खडन किया है। वकिल ने कहा है कि "सर्वश्रेष्ठ कानून वे ही थे, जिनसे पूर्ववर्ती कानून रद्द हुए।" लेकिन जनता को कितने भगीरथ प्रयत्न करने पडे है और कितनी खून की नदिया बही है, जब कभी गुलामी की जजीरों मे बाधनेवाले इन मौलिक कानूनो के खडन का सवाल उठाया है। सामन्ती अधिकारो और गुलामी के अवशेषो को उखाडने और शाही दरबार की ताकत को तोडने मे फ्रांस को ४ वर्ष क्रान्ति और २० साल तक युद्ध करना पडा था। छोटे-से-छोटे अन्यायपूर्ण कानून को रद्द कराने मे भी वर्षो संघर्ष करना पडा और फिर भी क्रान्ति के चार वर्षो के बाद वे फिर जीवित हो गए यानी केवल क्रान्ति के दौरान मे वे प्रयोग मे नही लाये गए।

साम्यवादियो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति का इतिहास कई बार दुहराया है। उन्होने दिखलाया है कि किस प्रकार युद्ध और लूट, दासता और गुलामी, शोषण और धूर्तता से व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रारम्भ और

विकास हुआ हैं। उन्होने दिखलाया है कि कैसे मजदूरों के खून से उसका पोषण हुआ है और किस प्रकार उसने सम्पूर्ण ससार को अपने कब्जे में किया-हैं। कानून के जन्म और विकास का वही इतिहास हमे कहना है। जैसाकि स्वाभाविक था, जनता की सहज बुद्धि किताबी विद्वानो से आगे बढ गई है। जनता ने कानून के इस इतिहास को अब भली-भाति समझ लिया है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की भाति कानून का भी विकास लूट, गुलामी और शोषण के परिणामो को स्थायी करने के उद्देश्य से हुआ है। जुडवा भाई-बहनो की तरह कानून और व्यक्तिगत सम्पत्ति साथ-ही-साथ बढे है और मनुष्य-जाति के दु खो के बढाने मे एक-दूसरे के पूरक हैं। यूरोप के प्रत्येक देश में उनका इतिहास लगभग एक-सा ही है। उनमे फर्क केवल छोटी-छोटी बातो में है—मूलत. दोनो का इतिहास एक-सा ही है। फ्रास अथवा जर्मनी मे कानून के विकास के इतिहास पर नजर डालना मानो यूरोप के अधिकाश देशो मे उसके विकास को जानना है।

प्रारम्भिक अवस्था मे कानून एक राष्ट्रीय समझौता था। यह सच है कि यह समझौता अक्सर जनता आसानी से स्वीकार नही करती थी। प्रारम्भ मे भी सत्ताधारी अमीर लोग गरीबो के ऊपर अपनी इच्छा थोपते थे। लेकिन उन दिनो जनता इसका प्रबल विरोध करती थी और अक्सर शोषको को अपनी शक्ति महसूस करा देती थी।

लेकिन जब एक ओर धर्म और दूसरी ओर सरकारो ने जनता को गुलामी की दुहरी जजीरो से कस लिया, तो कानून बनाने का अधिकार सम्पूर्ण राष्ट्र के हाथो से निकलकर विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के पास पहुच गया। अपने कोषो मे सचित धन के बल पर धर्म ने अपनी सत्ता को जमाया। व्यक्तिगत जीवन मे उसने और भी अधिक हस्तक्षेप करना शुरू किया और आत्माओ के बचाने का बहाना लेकर उसने गुलामो की मेहनत की उपज पर कब्जा किया। उसने प्रत्येक वर्ग के आदमियो से टैक्स उगाहे, अपने अधिकारो का क्षेत्र विस्तृत किया, और खूब सजाए दी। सैकडो व्यक्तियो

को धार्मिक सत्ता के विरुद्ध अपराधी घोषित कर उनसे जुर्माने वसूल किये और इस प्रकार अपनी सम्पत्ति बढाई। इन धार्मिक कानूनों के विषय मे फ्रासीसी कानून के एक इतिहास लेखक ने ठीक ही लिखा है—"स्पष्टत' ये कानून जनता के प्रतिनिधियो के बजाय धर्मान्धो के गुट द्वारा बनाये गए प्रतीत होते है।"

धर्म के इन ठेकेदारो के साथ-ही-साथ सामतो ने किसानो और मजदूरों पर अपनी सत्ता जमाई, और वे सम्पूर्ण समाज के विधि-निर्माता और न्यायाधीश हो गए। दसवी शताब्दी मे निर्मित कानूनो को हम देखे। इनके द्वारा सामंतो और गुलामो के बीच मजदूरी, बेकारी और टैक्स आदि का नियमन होता था। इन कानूनो को जरा गौर से देखने से ही स्पष्ट हो जायगा कि इनके बनानेवाले लोग चन्द लुटेरे थे। वे सगठित हो गए थे। और चूकि जनता खेती की ओर ध्यान देने के कारण शातिप्रिय हो गई थी, ये लुटेरे अपने काम मे सफल हो गए। इन स्वार्थियो ने जनता की स्वाभाविक न्यायप्रियता का फायदा उठाया और अपनेको न्याय के ठेकेदारो के रूप मे उपस्थित किया। उन्होने कानून के मौलिक सिद्धान्तो को अपनी व्यक्तिगत आमदनी का जरिया बनाया और अपने आधिपत्य को कायम रखने के लिए अनेक कानून बना डाले। कालान्तर मे कानूनदा लोगो ने इनको इकट्ठा कर विभाजित कर दिया और इस प्रकार हमारे वर्त्तमान कानून शास्त्र की रचना हुई। क्या पुरोहितो और सामन्तो के निजी स्वार्थों से परिपूर्ण इन कानून शास्त्रो का हम आदर करे?

पहली क्रान्ति—यानी शहरी जनता का विद्रोह—इन कानूनो के केवल एक हिस्से को ही बदलवाने मे सफल हुई। मताधिकार-प्राप्त नगरो के अधिकार-पत्र सामन्ती कानूनो मे थोडे-से परिवर्तन ही कराने में सफल हुए। लेकिन फिर भी इन मताधिकार-प्राप्त नगरो के कानूनो में और हमारे वर्त्तमान कानूनो मे कितना अधिक अन्तर है? उन दिनो नगरो ने नागरिको को गिरफ्तार करने अथवा फासी देने का जिम्मा अपने ऊपर नही लिया था। वे इतनी सत्ता से ही सन्तुष्ट थे कि नगर के खिलाफ षड्यत्रकारियो को नगर

से निकाल दे और उनके घर गिरवा दे। उनके अधिकार तथाकथित अपराधो और अनाचारो पर जुर्माना करने तक ही सीमित थे। और बारहवी शताब्दी मे नगरो मे वह उचित सिद्धान्त भी प्रचलित था कि किसी एक आदमी के अपराध के लिए सम्पूर्ण नगर को दोषी ठहराया जाता था। आज यह सिद्धान्त भुला दिया गया है। उस जमाने मे अपराध सम्पूर्ण समाज के लिए एक दुर्घटना अथवा दुर्भाग्य समझा जाता था। यही विचार आजतक रूसी किसानो मे प्रचलित है। इसीलिए वे लोग बाइबिल मे प्रतिपादित व्यक्तिगत तौर पर बदला लेने के सिद्धान्त मे विश्वास नही करते थे। उनके विचार से प्रत्येक अपराध का जिम्मा सम्पूर्ण समाज पर पडता था। बाइज़ैन्टाइन धर्म के प्रभाव मे निरन्तर रहने के कारण ही पश्चिम मे पूर्वी तानाशाही की क्रूरता आई। और उसीके प्रभाव के कारण गौल और जर्मन लोगो में तथाकथित अपराधियो को मृत्यु-दण्ड और अन्य भयकर सजाए देने की प्रथा आई। उसी तरह रोम के कानून शास्त्र के—जो वहा के साम्राज्यवाद के भ्रष्टाचार का फल था—प्रभाव मे रहने के कारण जमीन के ऊपर एकाधिपत्य के विचार आए। इन सब विचारधाराओ ने प्राचीन युगो की साम्यवादी रीतियो को नष्ट कर दिया।

हम जानते ही है कि स्वतत्र नगर अपने ढग पर नही चल सके। अमीर और गरीब, साहूकार और गुलामो के आपसी झगडो के कारण वे शीघ्र ही राजकीय शासन के अधीन हो गए। और जैसे-जैसे राज्य अधिक शक्तिशाली होता गया, कानून बनाने की शक्ति दरबारी गुट के हाथो मे पहुचती गई। अब यदि राजा नये टैक्स लगाता, तो राष्ट्र के प्रतिनिधियो से स्वीकृति ली जाती। और नये टैक्सो की स्वीकृति देनेवाले कौन थे? राजा की स्वेच्छा अथवा सनक के अनुसार विधान सभाएं बुलाई जाती और वह भी दो-दो शताब्दियो बाद। उनके सदस्य थे बडे-बडे सामंत और मत्री—जिन्हे शायद ही कभी 'राजा की प्रजा' के दु खो और अभावो की ओर ध्यान देने की फुर्सत मिलती हो। ये लोग थे, जो फ्रास के लिए कानून बनाते थे।

कालान्तर मे नये टैक्स लगाने की शक्ति भी केवल एक ही व्यक्ति के

हाथ मे केन्द्रित हो जाती है। वह कह सकता है—"मै ही राज्य हू।" फिर राजा की 'गुप्त सभाओ' मे मन्त्री अथवा अशक्त राजा की सनको के अनुसार कानून बनते हैं। और प्रजा को इन कानूनो के मानने के लिए बाध्य किया ज़ाता है, नही तो मौत की सज़ा है। अब न्याय की दुहाई खत्म हो ज़ाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र राजा और उसके चद दरबारियो का गुलाम बन जाता है। आइये, उस जमाने की भयकर सजाओ को भी देखे। तथाकथित अपराधियों को गाडी के पहियो के नीचे डाल दिया जाता था, उनके कन्धो पर गाडी का जुआ रखा जाता था, कोडे लगाये जाते थे और तरह-तरह की यातनाए दी जाती थी, और ये सजाए सत्ताधारियो के मनोविनोद का साधन थी।

फ्रास की महान् राज्य-क्रान्ति ने कानून के इस ढाचे को, जो सामन्तशाही और राजशाही ने विरासत मे छोडा था, नष्ट करना शुरू किया। क्रान्तिकारियो ने इस पुरानी इमारत के थोडे-से हिस्से को ही नष्ट किया था कि उन्होने यह काम मध्यम वर्ग के शहरी आदमियो को सौप दिया। और इन व्यक्तियो ने कानून का एक नया ढाचा बनाना प्रारम्भ कर दिया। उनका उद्देश्य था गरीबो के ऊपर अपनी हुकूमत जमाना। अब विधान सभा ने हर चीज के लिए कानून बनाना प्रारम्भ कर दिया। कानूनो के ढेर लग गए। और ये कानून थे क्या ?

इनमें से अधिकाश का एक ही उद्देश्य था, व्यक्तिगत पूजी, चद व्यक्तियो द्वारा शेष समाज के शोषण से सचित सम्पत्ति, की रक्षा करना। उनका उद्देश्य था शोषण के लिए नये क्षेत्र तैयार करना। और जैसे-जैसे पूजी, राज्य के विभिन्न कार्य, जैसे रेल, तार, बिजली, रासायनिक उद्योग, साहित्य, विज्ञान, आदि पूजीपतियो के कब्जे मे पहुचते गए, शोषण के इन नये तरीकों पर कानूनो ने अनुमति की मुहर लगा दी। इस प्रकार कानून शोषण द्वारा उपार्जित धन के ऊपर चंद व्यक्तियो के एकाधिपत्य की व्यवस्था को चलाने मे सहायक हुए। मजिस्ट्रेट, पुलिस, फौज, शिक्षा, अर्थ-विभाग, सब केवल एक ही आराध्य देव की सेवा करते है—यानी व्यक्तिगत पूजीवाद। सबका केवल एक ही उद्देश्य है—चंद पूजीपतियो द्वारा किसानो और मजदूरो का

शोषण सुगम करना। अवतक जितने कानून वने हैं, उनका अध्ययन कर लीजिये। आप इसी निष्कर्ष पर पहुचेगें।

कानूनो के समर्थक कहते हैं कि कानून का उद्देश्य व्यक्ति की रक्षा है। लेकिन जरा गौर से देखने पर मालूम पडेगा कि ये रक्षात्मक कानून सम्पूर्ण कानून-शास्त्र मे अत्यन्त अल्प है। वास्तव मे वर्त्तमान समाज में घृणा अथवा अमानुषिकता के कारण शायद ही एक व्यक्ति दूसरे पर आक्रमण करता हो। आजकल यदि कोई दूसरे को मारता है तो उसका उद्देश्य होता है उसे लूटना. व्यक्तिगत बदले के कारण हत्याए एकाघ ही होती हैं। लेकिन एक बात हमें याद रखनी है। यदि इस प्रकार के अपराध और अकर्म कम होते जा रहे है, तो निश्चय ही इस परिवर्त्तन का कारण कानून नही हैं। इसका कारण है—हमारे समाज मे मनुष्यता और सामाजिकता का विकास। कानून-शास्त्र की विभिन्न धाराओ का इससे कोई ताल्लुक नही। आप एक साथ व्यक्तिगत रक्षा से सम्बन्धित सब कानूनो को हटा दीजिये और हमलो के विरुद्ध सब कारंवाहियो को खत्म कर दीजिये—फिर भी आप देखेंगे कि व्यक्तिगत प्रतिशोध अथवा अमानुषिकता के कारण हमलो मे कोई वृद्धि नही होगी।

कानूनो के समर्थक यह भी कह सकते है कि पिछले ५० वर्षो मे जनता के लिए अनेक लाभदायक कानूनो का निर्माण हुआ है। जरा गौर से देखने पर मालूम पड जायगा कि प्रत्येक 'लाभदायक कानून' का अर्थ थोडे शब्दों में यह है—"उन कानूनो को रद कर देना जो स्वय मध्यम वर्ग के लिए कष्टप्रद हो गए थे, अथवा हद-से-हद नागरिको को उन अधिकारो की प्राप्ति जो बारहवी शताब्दी मे उन्हे प्राप्त थे।" फासी की सजा का बन्द होना, सब अपराधो के लिए 'जूरी' द्वारा मुकदमे की व्यवस्था, मजिस्ट्रेटो का चुनाव, अधिकारियो के ऊपर मुकदमा चलाने का अधिकार, बडी-बडी फौजो का हटाया जाना, नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था तथा अन्य सुविधाए कानून-निर्माताओ की उदारता के परिणामस्वरूप बताई जाती है। लेकिन ये तो वे सहूलियते हैं जो राजा और धार्मिक पुरोहितो के हाथ मे सत्ता आने के पहले सम्पूर्ण समाज को प्राप्त थी।

इस प्रकार हम स्पष्टत. देखते है कि हमारे वर्त्तमान कानून-शास्त्रो का सार और उद्देश्य सिर्फ शोषण को सरक्षण देना मात्र है । यही एक कार्य हमारी खर्चीली विधान सभाए करती है । अब समय आ गया है कि हम केवल नारे लगाने से सन्तुष्ट होना छोड दे और कानूनो की असलियत को पहचाने । कानून-शास्त्र पहले किसी युग मे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यकीय रीतियो का सग्रह रहा होगा । आज तो वह सिर्फ आलसी अमीरो द्वारा मेहनत करनेवाली जनता का शोषण और उसके ऊपर हुकूमत जारी रखने का एक साधन-मात्र है । आज तो कानून-शास्त्र का मनुष्य जाति की सभ्यता से कोई ताल्लुक नही, उसका केवल एक ही उद्देश्य है—शोषण को बढाना ।

कानून के विकास का इतिहास भी हमे यही बताता है । क्या फिर भी कानून की इज्जत करने की बात दुहरावे ? कदापि नही । व्यक्तिगत सम्पत्ति—डकैती का परिणाम कहना अधिक सच होगा—की भाति कानून भी हमारी इज्जत का हकदार नही । और क्राति का सबसे पहला कर्त्तव्य होगा कि पूजी के ऊपर सब व्यक्तिगत अधिकारो को समाप्त करना और तमाम मौजूदा कानूनो को नष्ट कर देना ।

मनुष्य-जाति के कार्यो को नियमित करने के लिए लाखो कानून है । वे तीन मुख्य श्रेणियो मे विभाजित किये जा सकते है, पूजी का सरक्षण, व्यक्तियो की रक्षा और सरकार की रक्षा । यदि इन सब कानूनो को बारीकी से देखे तो हम केवल एक ही तर्कसंगत और अवश्यम्भावी निष्कर्ष पर पहुचेगे—कानन बिलकुल व्यर्थ है और मनुष्य-जाति के लिए घातक है ।

साम्यवादी जानते है कि पूजी की रक्षा के क्या मानी होते है । पूजी सरक्षण सम्बन्धी कानून व्यक्ति अथवा समाज को उसकी मेहनत की उपज की गारंटी हर्गिज नही करते । इसके विपरीत उनका उद्देश्य होता है किसानों और मजदूरो के उत्पादन में से लूट को जायज करार देना । इन कानूनो की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि उत्पादको तथा सम्पूर्ण समाज से

लटकर जो सम्पत्ति चद स्वार्थियो ने इकट्ठी करली है, उसे सुरक्षित और पवित्र मान लिया जाय । मिसाल के लिए जब कानून कहता है कि अमुक मकान के ऊपर इस व्यक्ति का अधिकार है, तो बात ऐसी नही है कि उस व्यक्ति ने अपने मकान को स्वय अथवा अपने मित्रो की सहायता से बनाया है और इसलिए मकान के ऊपर उसका अधिकार न्यायसगत है । उस हालत मे उक्त मकान के ऊपर उस व्यक्ति के अधिकार का कोई विरोध भी नही करता । लेकिन इसके विपरीत यहा तो कानून ऐसे व्यक्ति को उस मकान के ऊपर अधिकार दे रहा है, जो उसकी मेहनत से नही बना है, क्योकि सबसे पहले तो उसने यह मकान दूसरो से बनवाया है, जिन्हे उसने मजदूरी के पूरे पैसे भी नही दिये । और फिर उस मकान की कीमत सामाजिक कारणो से है, जिनका वह व्यक्ति कभी निर्माण कर ही नही सकता । इस प्रकार कानून उक्त व्यक्ति को अधिकार उस चीज के ऊपर दे रहा है, जो समान रूप से सबकी है, और उसपर किसीका भी विशेषाधिकार नही। यही मकान यदि साइबेरिया मे बनाया गया होता, तो उसका वह मूल्य नही होता जो एक वडे शहर मे स्थित होने के कारण है । वास्तव मे मकान की बढी हुई कीमत के कारण तो वे मजदूर है, जिन्होने पिछले सैकडो वर्षों मे उस नगर को वसाया है, और अपना खून-पसीना बहाकर उसे सुन्दर बनाया है, पानी और रोशनी का प्रवन्ध किया है, और वहा अच्छी सडको, कालेज, थियेटर, दूकानो, रेल आदि की व्यवस्था की है । इस प्रकार लन्दन, पेरिस अथवा रोम मे किसी मकान के ऊपर एक व्यक्ति-विशेष का अधिकार स्थापित करके कानून गरीब जनता की मेहनत के फल को अन्यायपूर्वक एक लुटेरे के कब्जे में दे रहा है । पूजी के ऊपर इस प्रकार के विशेषाधिकार बिल्कुल अन्यायपूर्ण है । अन्याय अनन्त काल तक चल नही सकता और उसके विरुद्ध सम्पूर्ण समाज के विद्रोह की सम्भावना है और इसीलिए इस अन्याय को कायम रखने के लिए सैकडो कानून, सिपाहियो की फौज, जज, जेल आदि का आविष्कार किया गया है ।

कानून के आधे भाग—दीवानी कानून—का केवल एक ही उद्देश्य है—

सम्पूर्ण पूजी पर समाज के सामान्य अधिकार को हटाकर चन्द व्यक्तियो के विशेषाधिकार को कायम रखना। वास्तव मे तीन-चौथाई मुकदमों के मूल में यह व्यक्तिगत सम्पत्ति ही है—जैसे दो डाकू लूट के बँटवारे के ऊपर झगडा कर रहे हो, और हमारे फौजदारी कानून के अधिकाश का भी यही मतलब है, यानी मजदूर को मालिक की गुलामी मे रखना, जिससे शोषण मे आसानी हो।

जहातक किसान-मजदूर का प्रश्न है, उनकी मेहनत की उपज के ऊपर उनके अधिकार का सवाल है, एक भी ऐसा कानून नही जो किसान-मजदूरो के हितो की रक्षा करता हो। कानून को इन गरीबो के अधिकार से कोई वास्ता नही। आजकल तलवार हाथ मे लेकर खुले आम डकैती नही होती और न एक मजदूर हमला करके दूसरे मजदूर की उपज को छीनता है। अगर दो मजदूरो के बीच झगडा होता है, तो वे न्यायालय जाने के बजाय एक तीसरे आदमी को बुलाकर उसे तै करा लेते है। केवल एक ही वर्ग है जो दूसरो से उनकी उपज को छीनता है, और वह है पूजीपतियो का वर्ग। जहा तक साधारण गरीब मनुष्य का सम्बन्ध है वहा तो बिना किसी प्रकार के कानूनो के सदैव ही अपनी मेहनत की उपज के ऊपर उसका अधिकार सुरक्षित है।

आज तो इन पूंजी-सम्बन्धी कानूनो के बडे-बडे पोथे बन गए है। हमारे वकील लोग उन्हे देख-देखकर बडे प्रसन्न है, और इन सब कानूनो का इतना ही उद्देश्य है कि बडे-बडे पूजीपतियो की सम्पत्ति की रक्षा करना, यानी चद लुटेरों की लूट को जायज और पवित्र करार देना। इसलिए हम कहते है कि कानूनो की हमे कोई जरूरत नही। सामाजिक क्रातिकारी इस बात पर दृढ है कि क्रान्ति होते ही इन सब पूजी-सम्बन्धी कानूनों को एक साथ नष्ट कर देगे। सचमुच क्रान्ति के दिन एक होली होगी, जिसमे सम्पत्ति-सम्बन्धी सम्पूर्ण कानून-शास्त्र और उसका सरंजाम—अधिकार पत्र, रजिस्टर आदि नष्ट कर देने होगे। वह दिन दूर नही, जब ये पूजी-सम्बन्धी कानून मानव-समाज के इतिहास मे कलक माने जायगे और उतने ही निकृष्ट समझे जायगे, जितनी प्राचीन काल की गुलामी की प्रथा।

जो बाते अभी पूजी-सम्बन्धी कानूनो के बारे मे कही गई है, वे कानून-शास्त्र के दूसरे भाग—यानी विधान-सम्बन्धी कानूनो—पर भी बिल्कुल लागू होती है।

कानून-शास्त्र का यह भाग भी एक पूरा बारूदखाना है, जिसमे सैकडो कानून, आर्डनेस, दफाए, राजकीय आज्ञाए आदि भरी हुई है। ये सब मिलकर प्रजातत्रीय सरकार के विभिन्न रूपो की रक्षा करते है। वह सरकार जनता की इच्छाओ के अनुरूप है कि नही, उसके अधीन मानव-समाज सुखी है या कराह रहा है—ये बाते दूसरी है और कानून-शास्त्र को इनसे कोई वास्ता नही। हम भली-भाति जानते है, अराजकवादियो ने शासन के विभिन्न रूपो की आलोचना करते हुए इस बात को कई बार दुहराया है, कि प्रत्येक सरकार का—चाहे वह राजकीय, वैधानिक अथवा प्रजतान्त्रिक हो—एक ही उद्देश्य है—यानी अधिकार प्राप्त वर्ग—जागीरदार, पुरोहित, व्यापारी, आदि—के अधिकारो को कायम रखना और उनकी रक्षा करना। हमारे कानून-शास्त्र का एक-तिहाई से ज्यादा टैक्स, मादक कर, कर्मचारी, फौज, पुलिस, धर्म आदि से सम्बन्धित कानूनो से भरा रहता है। प्रत्येक देश मे इस प्रकार के हज़ारो ही कानून होते है। उनका एकमात्र उद्देश्य है शासन की मशीन को चलाना—उस शासन की मशीन को—जो अधिकार प्राप्त वर्ग के अधिकारो की पूर्णत रक्षा करती है। इन कानूनो को जरा गौर से देखिये—इन्हे व्यवहृत होते देखिये और आपको मालूम होगा कि इनमे एक भी कानून मानव समाज के हितो का रक्षक नही।

इन वैधानिक कानूनो के विषय मे दो राये हो ही नही सकती। अराजकवादी ही नही, वरन लगभग सब क्रान्तिकारी सुधारक भी इस बात को स्वीकार करते है कि शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कानूनो का केवल एक ही उपयोग हो सकता है—उनको आग के समर्पण कर दिया जाय।

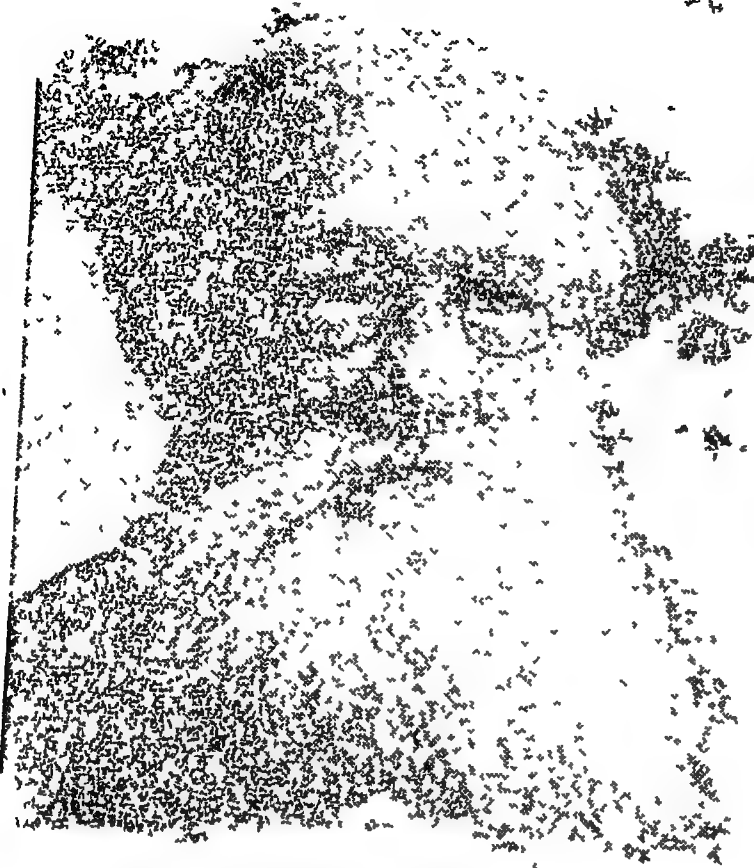
कानून-शास्त्र के तीसरे भाग पर अभी विचार करना शेष है। इस भाग के कानून व्यक्ति की रक्षा और अपराध-निरोध से सम्बन्धित है। इनका अध्ययन हमे जरा बारीकी से करना होगा, क्योकि अनेक व्यक्तियो

का कानून के ऊपर विश्वास इसी भाग के कारण है। कहा जाता है कि ये कानून हमारे समाज मे शान्ति बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव मे य कानून उन रीतियो से विकसित हुए है जो मानव-समाज के विकास के लिए हितकारी और आवश्यक थी। शासक वर्ग ने अपनी सत्ता को पवित्र बनाने के लिए इन रीतियो के साथ अपना स्वार्थ भी मिला दिया। आजकल भी जब सरकार की आवश्यकता की बात कही जाती है, तो उसके सर्वोच्च न्यायालय होने की बात कही जाती है। गाव का मुखिया भाषण देते हुए कहता है—"बिना किसी सरकार के आदमी एक-दूसरे को मार डालेगे।" वर्क ने कहा था—"सब सरकारो का अन्तिम ध्येय यह है कि एक अपराधी के जुर्म की जांच करने के लिए बारह ईमानदार व्यक्तियो की व्यवस्था हो।"

खैर, इस विषय के ऊपर तमाम इकतरफा विचारो के होते हुए भी, अब भी समय है कि अराजकवादी घोषणा कर दे कि इस वर्ग के कानून भी उतने ही फिजूल और हानिप्रद है, जितने कि पहले वर्गों के।

सबसे पहले हम व्यवितयो पर हमलो की बात ले। सभी जानते है कि इन अपराधो मे दो-तिहाई से अधिक दूसरो की सम्पत्ति लूटने के लिए होते है। अपराधो की यह सख्या उसी दिन खत्म हो जायगी जिस दिन व्यक्तिगत पूजी की प्रथा नष्ट हो जायगी। कुछ लोग कहेगे, "लेकिन समाज मे कुछ पाशविक व्यक्ति रहेगे और यदि उनको सजा देने के लिए कोई कानून न रहे, तो वे अन्य व्यक्तियो पर आक्रमण करेगे, हर झगडे मे अपना चाकू निकालेगे और तनिक-सी वात पर निरपराध व्यक्ति को मार डालेंगे।" जब कभी यह प्रश्न उठता है कि समाज को दण्ड देने का अधिकार है कि नही, ये ही बाते दुहराई जाती है।

इन सब तर्कों के बावजूद एक बात निर्विवाद है कि सजाओ की कड़ाई से अपराधो की सख्या में कमी नही होती। आप कातिल को फासी पर चढा दे, या उसके टुकडे-टुकडे कर डाले, फिर भी हत्याए होना बन्द नही होगा। इसके विपरीत आप फांसी की सजा हटा दीजिये और आप देखेंगे कि हत्याओ की संख्या में कोई वृद्धि नही होगी, कमी होने की अधिक सम्भावना है।



क्रोपाटकिन-दम्पति



यह बात हम वास्तविक तथ्यो के आधार पर कह रहे है। यदि फसले अच्छी हो, भोजन सस्ता हो और मौसम सुहावना रहे, तो हत्याए तुरन्त कम हो जायगी। यह बात तथ्य-सिद्ध है कि अपराधो की सख्या मौसम और भोजन सामग्री के मूल्यो के अनुपात से घटती-बढती है। यह ठीक है कि सब हत्याए भूख के कारण नही होती। लेकिन जब फसल अच्छी होती है, खाद्य पदार्थ सस्ते रहते है, और मौसम सुहावना होता है, तो आदमी सन्तुष्ट और खुश रहता है। फिर यकायक वह दुर्भावनाओ का शिकार नही होता और छोटी-छोटी बातो के लिए अपने साथी के पेट मे चाकू भोकने की कल्पना भी उसके मस्तिष्क मे नही आती।

यह भी सर्वविदित तथ्य है कि एक भी कातिल फासी की सजा के डर से हत्या करने से नही रुका। जो व्यक्ति अपने पडोसी पर आक्रमण करता है, वह उसके परिणामो के विषय मे बहुत नही सोचता। शायद ही किसी कातिल का विश्वास हो कि उसे हत्या का दण्ड नही भोगना पडेगा। अभी हम उस समाज की चर्चा नही कर रहे, जब आदर्श शिक्षा की व्यवस्था होगी, मनुष्यो को अपनी सम्पूर्ण शक्तियो के विकास करने का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा, उनके उपयोग के लिए उचित अवसर मिलेगे और उन्हे इतने सुख होगे कि वह दुर्भावनाओ से अपने जीवन को कलुषित नही करेगे। हमारे समाज की वर्त्तमान नितान्त पतितावस्था मे भी—इतने वेश्यालयो के होते हुए भी—जिस दिन कातिलो को सजा देना बन्द कर दिया जायगा, हत्याओ मे कोई वृद्धि नही होगी। इसके विपरीत यह अधिक सम्भव है कि हत्याए कम हो जाय। वास्तव मे अधिकाश कातिल वे व्यक्ति होते है, जिन्हें जेलो ने पशु बना दिया है।

कानूनो के समर्थक उनके अनेक लाभ बताते है और समाज के लिए सजाओ को उपयोगी मानते है। लेकिन क्या इन तर्क करनेवालो ने कभी यह भी तुलनात्मक अध्ययन किया है कि कानून और सजा से समाज को कितना फायदा हुआ है और उसके कितने भयकर खेदजनक परिणाम हुए है ? सिर्फ उन सजाओ का स्मरण कीजिये जो खुले आम सडको पर दी जाती

थी; और समाज के ऊपर क्या प्रभाव पडता था ? आज पृथ्वी के ऊपर मनुष्य सबसे अधिक निर्मम प्राणी है। और मनुष्यो की कुत्सित प्रवृत्तियो को किसने पोषित और विकसित किया है ? यह कार्य किया है कानून के सरजाम की मदद से राजा, न्यायाधीश और पुरोहितो ने। उन्होने कोडो द्वारा जीवित मास उधडवाया, घावो मे खौलता पानी डलवाया, मार से हड्डिया तक तुडवा दी, मनुष्यो को जीवित ही जमीन मे गडवा दिया—सिर्फ इसलिए कि उनकी सत्ता बनी रहे। आप उस पतन की कल्पना कीजिये जो मानव-समाज मे जासूसो के कारण व्याप्त है—वे जासूस जिन्हे सरकार लाखों रुपया देती है कि वे अपराधियो को ढूढ सके और जिनकी सहायता से न्यायाधीश न्याय करने का दम भरते हैं। आप सिर्फ जेलो मे जाइये और वहा देखिये कि मनुष्य का कितना पतन होता है जब उसकी स्वतत्रता छीनकर उसे अन्य अपराधियो के बीच बन्द कर दिया जाता है। आप इस बात को याद रखिये कि जितना ही आप इन जेलो का सुधार करते है, उतने ही वे अधिक घृणास्पद होते है। हमारे आजकल के आदर्श कारागृह मध्य युग की काल-कोठरियो से भी अधिक निकृष्ट है। अन्त मे आप उस गुलामी की मनोवृत्ति का भी अन्दाज लगाइये जो आज्ञा मानने की वाध्यता के परिणाम-स्वरूप मानव-समाज मे आ गई है। आप उस मानसिक पतन की भी कल्पना कीजिये जो शासन के कारण, सत्ता के पास सजा देने के अधिकार के कारण—अन्तरात्मा अथवा मित्रो की भावनाओ का विना खयाल किये न्याय करने के कारण, और जल्लादो, जेलरो और जासूसो के कारण—सक्षेप मे कानून और सत्ता के फलस्वरूप, मानव-समाज मे व्याप्त है। इन सवपर विचार कीजिए और फिर आप निश्चय ही हमारे साथ सहमत होकर कहेगे कि कानून और सजा अत्यन्त घृणित है और तुरन्त ही खत्म होने चाहिए।

वर्त्तमान काल मे भी ऐसी अनेक जातिया है जिनके वीच कोई राज-नैतिक सस्थाए नही और इसलिए वे हमसे कम पतित है। ये जातिया इस तथ्य को जानती है कि वह व्यक्ति, जिसे हम अपराधी कहते है, वेचारा

अभागा है। वे समझती है कि उसका इलाज उसे कोडा लगाना, जेल मे डालना अथवा फासी देना कदापि नही। उसका इलाज है कि उसे अत्यन्त स्नेह से सहायता दी जाय, उसके साथ समानता और आदर का व्यवहार किया जाय, और उसे ईमानदार व्यक्तियो के बीच जीवित रखा जाय। हमारा विश्वास है कि अगली क्रान्तियो मे हम भी यही आवाज उठावेगे।

इसलिए फासी के तख्तो को उखाड फेको, जेलो को तोड दो और इस पृथ्वी पर सबसे गन्दे वर्ग—न्यायाधीश, पुलिस और जासूसो—को नष्ट कर दो। जिस व्यक्ति ने उत्तेजनावश अपने साथी के साथ दुर्व्यवहार किया है, उसके साथ भाई की तरह हमदर्दी से व्यवहार करो। अन्त मे मध्यम वर्ग की आलसी और प्रमादी हरकतो को खत्म कर दीजिये। फिर आप देखेगे कि निश्चय ही हमारे समाज मे बहुत थोडे अपराध होगे।

अपराधो के सहायक है आलस्य, कानून और सत्ता। अपराधो के मूल कारण है पूजी-सम्बन्धी कानून, शासन-सम्बन्धी कानून, सजा के कानून और सत्ता, जिसने कानूनो को बनाने और लागू करने का जिम्मा अपने-आप ले लिया है।

बस, अब हमे कानून नही चाहिए। न्यायाधीशो की कोई आवश्यकता नही। स्वाधीनता, समानता और सहज मानुषिक सहानुभूति द्वारा ही हम अपने कुछ भाइयो की असामाजिक भावनाओ को रोक सकते है।

: ७ :

# सबका सुख

सबको सुख मिले, यह स्वप्न नही है। सबको सुख मिलना संभव है और वह मिल भी सकता है, क्योकि हमारे पूर्वजो ने उत्पादन-शक्ति को बहुत बढा दिया है।

वस्तुत हम जानते है कि यद्यपि उत्पत्ति के काम मे लगे हुए लोगो

की संख्या मुश्किल से सभ्य ससार के निवासियो की एक-तिहाई होगी तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते है जिससे प्रत्येक घर एक खास हद तक सुखी हो सकता है। हमे यह मालूम है कि जो दूसरो की खरी कमाई बरबाद करने मे ही लगे हुए है, वे सब लोग यदि किसी उपयोगी कार्य मे अपना खाली समय व्यतीत करने को विवश किये जा सके तो हमारी उत्पत्ति का परिमाण बहुत बढ़ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जाति की सन्तानोत्पादन शक्ति से माल पैदा करने की शक्ति तेज है। भूमि पर मनुष्यो की जितनी घनी बस्ती होगी, उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढेगी।

इग्लैण्ड मे सन १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ ६२ फीसदी बढी, पर वहा की उत्पत्ति कम-से-कम उससे दुगुनी बढी, अर्थात १३० फीसदी। फ्रास मे आबादी और भी धीरे-धीरे बढी है, परन्तु उत्पत्ति की वृद्धि तो वहां भी बहुत तेज ही हुई है। यद्यपि वहा खेती पर बारबार सकट आये है, राज्य के हस्तक्षेप, 'रक्तकर' (अनिवार्य भरती) और व्यापार तथा लेन-देन मे सट्टेबाजी की बाधाये रही है, फिर भी पिछले अस्सी वर्षों मे गेहू की उत्पत्ति चौगुनी और कल-कारखानो के माल की उत्पत्ति दस गुनी बढ गई है। अमेरिका मे तो इससे भी अधिक प्रगति हुई है। यद्यपि विदेशो के लोग वहा आ-आकर बस गए, या सच तो यह है कि यूरोप के फालतू श्रमिक वहा जाकर भर गए, फिर भी सपत्ति दसगुनी बढ गई है।

परन्तु इन आकडो से तो सम्पत्ति की उस वृद्धि का धुधला-सा ही अनुमान हो सकता है जो परिस्थिति के और अच्छी हो जाने पर हो सकती है, क्योकि आजकल तो जहा हमारी सम्पत्ति-उत्पादन की शक्ति शीघ्रता से बढी है वहा साथ-ही-साथ निठल्ले और बीच वाले लोगो की सख्या भी बहुत अधिक बढी है। समाजवादियो का खयाल था कि पूजी धीरे-धीरे थोडे-से व्यक्तियो के हाथ मे ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाज को अपना न्याय्य उत्तराधिकार पाने के लिए केवल उन मुट्ठी भर करोड़पतियो की सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी। पर वास्तव में बात उल्टी ही हो रही है,

मुफ्तखोरो का दल बराबर बढ ही रहा है। फ्रास मे हर तीस आदमी के पीछे दस भी वास्तविक उत्पादक नही है। देश की सारी कृपि-सम्पत्ति सत्तर लाख से भी कम आदमियो की कमाई है और खानो तथा कपडे के दोनो प्रधान उद्योगो मे पच्चीस लाख से भी कम मजदूर है। मजदूरो को लूट-लूट कर खानेवाले कितने है। ब्रिटिश सयुक्त राज्य मे स्त्री-पुरुष और बालक मिलाकर कुल दस लाख से कुछ ही अधिक मजदूर कपडे के धधे मे लगे है, नौ लाख से कुछ कम मजदूर खानो मे काम करते है, भूमि जोतने-बोने मे भी बीस लाख से बहुत कम मजदूर काम करते है और पिछली औद्योगिक गणना के समय सारे उद्योग-धधो मे चालीस लाख से कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक थे। फलत गणना-विभाग वालो को अपने गणनाक बढाने पडे, इसलिए कि साठ करोड जन-सख्या पर उत्पादको की सख्या अस्सी लाख दिखाई जा सके। सच पूछिए तो जो माल ब्रिटेन से दुनिया के हर हिस्से मे भेजा जाता है उसका निर्माण करनेवाले साठ-सत्तर लाख मजदूर ही है। इसके मुकाबले मे जो लोग मजदूरो की मेहनत का बडे-से-बडा लाभ स्वय ले लेते है और उत्पादक और खरीदार के बीच मे पहुचकर, बिना श्रम किये, सम्पत्ति सचित कर लेते है, उनकी सख्या कितनी है।

किन्तु इस शक्ति के द्रुत विकास के साथ-साथ निठल्ले और बीच-वाले दलालो की सख्या मे भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूजी धीरे-धीरे थोडे-से आदमियो के हाथ मे ही एकत्र होती जाय तब तो समाज को केवल इतना ही करना पड़े कि मुट्ठी भर करोडपतियो से छीनकर वह जिनकी है उन्हे दे दी जाय। पर बात समाजवादियो की इस कल्पना के सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तखोरो का दल बुरी तरह बढता जा रहा है।

इतना ही नही, पूजीपति लोग माल की पैदावार भी बराबर घटाते रहते है। कहने की आवश्यकता नही कि 'आयस्टर' (घोघो) की गाडियो-की-गाडिया समुद्र मे सिर्फ इसलिए फेक दी जाती है कि जो चीज आजतक केवल धनवानो के उपभोग की वस्तु थी वह कही गरीबो का खाद्य न बन

जाय। और भी सैकडो विलास-वस्तुओ का यही हाल होता है। कहा तक गिनाई जाय! केवल यह याद रख लेना काफी है कि किस प्रकार अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ की पैदावार सीमित की जाती हैं। लाखो मजदूर रोज कोयला खोदने को तैयार है, जिससे वह कोयला ठंड से ठिठुरते हुए लोगो को गरमी पहुचाने के लिए भेजा जा सके। किन्तु बहुधा उनमे से एक-तिहाई या आधो तक को सप्ताह मे तीन दिन से अधिक काम नही करने दिया जाता। क्यो? इसलिए कि कोयले का भाव ऊँचा रखना है। हजारो जुलाहो को करघे नही चलाने दिये जाते,भले ही उनके स्त्री-बच्चो के तन ढकने के लिए चीथडे भी मयस्सर न हो और यूरोप के तीन-चौथाई लोगो को काफी कपडा न मिले।

सैकडो भट्टिया, हजारो कारखाने समय-समय पर बेकार रहते हैं। बहुतों मे सिर्फ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देश मे लगभग बीस लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते है जिन्हे काम चाहिए पर दिया नही जाता।

यदि इन लाखो नर-नारियो को काम दिया जाय तो वे कितने हर्ष से बंजर जमीन को साफ करके या खराब जमीन को उपजाऊ बनाकर उम्दा फसले तैयार करने मे लग जाय! इनका एक ही वर्ष का सच्चे दिल से किया हुआ परिश्रम लाखो बीघा बेकार जमीन की पैदावार को पाच-गुना कर देने के लिए काफी होगा। किन्तु दुर्भाग्य तो देखिये कि जो लोग धनोपार्जन की विविध दिशाओ मे अग्रगामी बनने मे सुख मानते हो उन्ही-को केवल इस कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पडता है कि भूमि, खानो और उद्योगशालाओ के स्वामी समाज को चूस-चूसकर उस धन को तुर्की या मिस्र मे या और कही लगाना पसन्द करते है और वहा के लोगो को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो हुई उत्पत्ति को जान-बूझकर और प्रत्यक्ष रूप से कम करने की बात। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है जिसका कोई हेतु ही समझ मे नही आता है, जिससे धनवानो के थोथे गर्व की तुष्टि भर होती हैं।

यह हिसाब लगाना आवश्यक है कि जिस शक्ति से उत्पादन का और उससे भी अधिक उत्पादक यत्र तैयार करने का काम लिया जा सकता है उस शक्ति का कितना अपव्यय किया जाता है और सम्पत्ति का उपार्जन किस सीमा तक कम किया जाता है। इतना बता देना काफी है कि बाजारो पर प्रभुत्व प्राप्त करने, पडोसी देशो पर बलात् अपना माल लादने और स्वदेश के गरीबो का खून आसानी से चूस सकने के एकमात्र उद्देश्य से यूरोप सेनाओ पर बेशुमार रुपया खर्च करता है। करोडो रुपया हर साल नाना प्रकार के कर्मचारियो के वेतन पर व्यय किया जाता है। और इन कर्मचारियो का काम क्या है? यही कि वे अल्पसख्यक लोगो अर्थात् मुटठी भर धनिको के राष्ट्र के आर्थिक जीवन का गति-चक्र अपने हाथ मे रखने के हक की रक्षा करे? करोडो रुपया न्यायाधीशो, जेलखानो, पुलिसवालो और तथोक्त न्याय के दूसरे कार्यो पर खर्च किया जाता है और यह सब निरर्थक व्यय है, क्योकि यह अनुभव की बात है कि बडे-बडे नगरो मे जब-जब जनता का थोडा-सा भी कष्ट निवारण हुआ है तब-तब अपराधो की सख्या और मात्रा बहुत कम हो गई है। इसी प्रकार करोडो रुपया दल या राजनीतिज्ञ-विशेष अथवा सट्टेबाजो के किसी विशेष समूह के लाभ के लिए समाचार पत्रो द्वारा हानिकर सिद्धान्त और झूठी खबरो के फैलाए जाने में लगाया जाता है।

किन्तु सबसे अधिक विचार तो उस परिश्रम का करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कही तो धनवानो के लिए अश्वशालाएँ, कुत्तेखाने और नौकरो के दल-के-दल रखे जाते है, कही समाज की बेहूदगियो और फेशनपरस्तो की कुरुचियो को तृप्त करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है, कही ग्राहक अनावश्यक वस्तुए खरीदने को विवश किए जाते है या झूठे विज्ञापन देकर घटिया माल उनके सिर मढ दिया जाता है, अथवा कारखानेदारो के फायदे के लिए सर्वथा हानिकारक चीजे तैयार की जाती है। इस प्रकार जिस सम्पत्ति और शक्ति की हानि की जाती है उससे उपयोगी वस्तुओ की उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारखाने इतने यत्रो से सुसज्जित किये जा

सकते है कि थोडे ही समय मे दुकाने उस माल से भर जायं, जिसके बिना अधिकाश जनता दु ख उठा रही है। वर्त्तमान व्यवस्था मे तो प्रत्येक राष्ट्र के चतुर्थाश उत्पादक साल मे तीन-चार महीने बेकार रहने को लाचार होते है और आधे नही तो एक-चौथाई लोगो की मेहनत का, धनवानो के मनोरंजन तथा जनता के रक्त शोषण के सिवाय, दूसरा उपयोग नही होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बात का विचार करे कि सभ्य राष्ट्रो की उत्पादन-शक्ति किस तेजी से बढ रही है और दूसरी ओर इसका कि वर्त्तमान परिस्थिति के कारण कितना कम माल उत्पन्न किया जाता है, तो हम इस नतीजे पर पहुचे विना नही रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक व्यवस्था जरा और बुद्धि-सगत हो जाय तो कुछ ही वर्षो मे इतने उपयोगी पदार्थों का ढेर लग जाय कि हमे कहना पडे, "बस बाबा! इतना रोटी-कपडा और ईधन काफी है! अब हमे शातिपूर्वक यह सोचने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाश का सर्वोत्तम उपयोग कैसे करे।"

हम फिर कहते है कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह कोई स्वप्न नही है। उस समय यह भले ही स्वप्न रहा हो जब बीघे भर जमीन से मर-पचकर भी थोडे-से गेहू पल्ले पडते थे और खेती और उद्योग के सारे औजार लोगो को हाथ से ही बनाने पड़ते थे। किन्तु अब यह कोरी कल्पना नही रहा, क्योकि ऐसी चालक (मोटर) शक्ति खोज निकाली गई है जो थोडे-से लोहे और कुछ बोरे कोयलो की सहायता से उसे घोडे के समान बलवान और आज्ञाकारी मशीनो तथा अत्यन्त जटिल यन्त्रजाल का स्वामी और सचालक बना देती है।

परन्तु यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन्, गोचर-भूमि, खेती की जमीन, कारखाने, जल-स्थल-मार्ग और शिक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे और एकाधिकार प्राप्त लोग इनका मनमाना उपयोग न कर सके। यह सब बहुमूल्य सम्पत्ति, जिसे हमारे पूर्वजो ने बडे कष्ट से कमाया, बनाया, सजाया अथवा खोज निकाला, सबकी सम्मिलित सम्पत्ति बन जानी चाहिए, जिससे मानव-जाति के संयुक्त

हिताहित का ध्यान रखकर सबका अधिक-से-अधिक भला किया जासके। निःसपत्तिकरण वैयक्तिक स्वामित्त्व का अन्त होना ही चाहिए। सबका सुख साध्य है, नि सम्पत्तिकरण साधन है।

तो बस, नि सम्पत्तिकरण—मनुष्य को सुखी बनाने के सभी साधनो की साम्यवादी व्यवस्था ही बीसवी शताब्दी की यह समस्या है जो इतिहास ने उसके सामने रखी है।

पर यह समस्या कानून के द्वारा हल नही की जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नही करता। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी समझते है कि न तो वर्त्तमान सरकार और न भावी राजनीतिक परिवर्त्तनो से उत्पन्न होने वाला कोई शासन ही इस समस्या को कानून से हल करने मे समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्राति की आवश्यकता मालूम होती है। निर्धन और धन-वान दोनो मानते है कि यह क्राति निकट आ पहुची है और कुछ ही वर्षो मे होनेवाली है।

उन्नीसवी शताब्दि के उत्तरार्ध मे विचारो मे बडा परिवर्तन हुआ। सम्पत्तिशाली वर्ग ने इसे दबा रखने और इसकी स्वाभाविक बाढ मार देने की बहुत कोशिश की, किन्तु यह नवीन भावना अपने बधन तोडकर अब क्राति के रूप मे मूर्त्तिमान हुए विना नही रह सकती।

क्राति आयगी किधर से ? इसके आगमन की घोषणा कैसे होगी ? इन प्रश्नो का उत्तर कोई नही दे सकता। भविष्य अभी अज्ञात के गर्भ मे है। पर जिनके आँखे है और मस्तिष्क है वे उसके लक्षणो को समझने मे गलती नही करते। मजदूर और उनके रक्त-शोषक, क्रातिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभीको ऐसा मालूम हो रहा है कि क्राति हमारे द्वार पर खडी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी तब हम क्या करेंगे ?

हम प्राय क्रातियो के आश्चर्यजनक दृश्यो का अध्ययन तो इतना अधिक करते है और उनके व्यावहारिक अग पर इतना कम ध्यान देते है

कि सम्भव है हम इन महान आदोलनो के तमाशे—शुरू के दिनो की लडाई—मोर्चेबन्दी को ही देखकर रह जाय। पर यह प्रारम्भ की भिडत जल्दी ही खत्म हो जाती है। क्राति का सच्चा काम तो पुरानी रचना के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासन अशक्त और जर्जर तो होते ही है, आक्रमण भी उनपर चारो ओर से होता है। बेचारे विद्रोह की फूंक लगते ही उड जाते है। जन-साधारण की क्राति के सामने तो पुरातन व्यवस्था के विधाता और भी तेजी के साथ गायब हो जाते है। उसके समर्थक देश को छोड भागते है और अन्यत्र सुक्षित बैठकर षड्यन्त्रो की रचना और वापस लौटने के उपाय सोचा करते है।

जब पुरानी सरकार नही रहती तो सेना भी लोकमत के ज्वार के सामने खड़ी नही रहती। सेनानायक भी दूरदर्शितापूर्वक भाग जाते हैं और सिपाही उनका कहना नही मानते। सेना या तो निरपेक्ष खडी रहती है अथवा विद्रोहियो मे मिल जाती है। पुलिस आराम से खडी-खडी सोचती है कि भीड को मारे या हम भी 'कम्यून (स्वतत्र प्रादेशिक सरकार) की जय' बोल दे। कुछ पुलिसवाले ऐसे भी निकल आते है जो अपने-अपने स्थान पर पहुचकर नई सरकार की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगते है। धनवान् नागरिक अपनी-अपनी पेटिया भरकर सुरक्षित स्थानो को चल देते है। साधारण लोग रह जाते हैं। क्राति देवी का अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बडे-बडे शहरो मे कम्यून की घोषणा कर दी जाती है। हजारों आदमी बाजारो में इधर-उधर घूमने लगते है और शाम को सभास्थलो मे जाकर पूछते हैं—'हम क्या करे?' इस प्रकार सार्वजनिक मामलो पर उत्साह-पूर्वक चर्चा होने लगती है। सब उनमे दिलचस्पी लेने लगते है। जो लोग कल तक उदासीन थे वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते है। सर्वत्र सद्भावना और विजय को पक्का कर देने की उत्कट लालसा पाई जाती है। ऐसे ही समय मे अपूर्व देशभक्ति के कार्य होते है। जनसाधारण में

आगे बढने की भरपूर अभिलाषा होती है।

ये सब बाते शानदार और महान होती है, किन्तु ये भी क्राति नही है। बात यह है कि क्रातिकारियो का कार्य तो यहा से शुरू होता है। निस्सदेह प्रतिहिंसा के कार्य होगे। जनता के कोपभाजन व्यक्ति अपने किये का फल पायगे। किन्तु ये बाते भी क्राति नही है, केवल सग्राम की स्फुट घटनाए है।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कलतक जिनकी कही पूछ नही थी ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार और हाथ-पैर पीटकर भाषण करने वाले वक्ता—मध्यवित्त और मजदूर सभी—जल्दी-जल्दी नगर-भवन और सरकारी दफ्तरो मे पहुचकर रिक्त स्थानो पर अधिकार कर लेगे। कुछ लोग जी भरकर अपने शरीर को सोने-चादी के आभूषणो से सजा लेंगे, मत्रियो के दर्पणो मे उन्हे देख-देखकर अपनी सराहना करेगे और अपने पद के अनुरूप महत्त्वसूचक मुद्रा धारण कर आज्ञा देना सीखेंगे। इन गौरव चिन्हो के बिना वे अपने कारखाने या दफ्तर के साथियो पर रोब कैसे गाठ सकते है? दूसरे लोग सरकारी कागजात में गड जायगे और सच्चे दिल से उन्हे समझने की कोशिश करेगे। ये कानून बनायगे और बडे-बडे हुक्म निकालेगे, पर इनकी तामील करने का कष्ट कोई न उठायेगा। क्राति जो ठहरी।

उन्हे जो अधिकार मिला नही है उसका ढोग रचने के लिए वे पुराने शासन के स्वरूप का सहारा लेगे। वे 'अस्थायी सरकार,' 'सार्वजनिक रक्षा-समिति', 'नगर-शासको' इत्यादि अनेक नाम ग्रहण करेंगे। निर्वाचित हो अथवा स्वयभू, वे समितियो और परिषदो मे बैठेंगे। वहां दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणियो के लोग एकत्र होगे। उनके मस्तिष्क मे क्रांति के क्षेत्र, प्रभाव और ध्येय की भिन्न-भिन्न कल्पनाए होगी। वे वाग्युद्ध मे अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगो का एक ही स्थान मे ऐसे महत्वाकाक्षियो से पाला पडेगा जिन्हें केवल शक्ति-अधिकार की चाह है और जो उसके मिलने पर जिस जनता में से वे निकलते है उसीको ठोकर मारते है। ये परस्पर-विरोधी विचारो के लोग एकत्र होगे जिन्हे आपस मे क्षणभंगुर

संधिया करनी पडेगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ बहुमत बनाना होगा। परन्तु यह बहुमत एक दिन से ज्यादा टिकने का नही। परिणाम यह होगा कि ये आपस मे लड़ेगे, एक-दूसरे को अनुदार सत्तावादी और मूर्ख बतायेंगे, किसी गम्भीर विषय पर एकमत न हो सकेगे, जरा-जरा-सी बातो पर वाद-विवाद करेगे और सिवाय लम्बी-चौड़ी घोपणाए निकालने के और कोई ठोस काम न कर सकेगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्त्व प्रदर्शित करते रहेगे और दूसरी ओर आदोलन की सच्ची शक्ति बाजारो मे भटकती फिरती होगी।

इन बातो से अभिनयप्रिय लोग भले ही खुश हो ले, किन्तु यह भी क्राति नही है।

हा, इस बीच मे जनता को तो कष्ट भोगने ही होते है। कारखाने बन्द रहते है। व्यापार चौपट हो जाता है। मजदूरो को जो थोडी-सी मजदूरी पहले मिलती थी वह भी नही मिलती। खाद्य पदार्थो का भाव चढ जाता है। फिर भी जन-साधारण वीरोचित निष्ठा के साथ, जो सदा उनकी विशेषता रही है और जो महान सकटो के अवसरो पर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते है। सन् १८४८ मे उन्होने कहा था—"हम प्रजातत्र सरकार से तीन महीने तक कुछ न मागेगे।" परन्तु उनके 'प्रतिनिधि' और नई सरकार के बाबू लोग और दफ्तर के अदना-से-अदना पदाधिकारी तक नियम से तनख्वाहे लेते रहे।

जनता कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ लोग सोचते है कि "नेताओ पर भरोसा रखना चाहिए। वे वहा उस सभाभवन, नगर भवन, या सार्वजनिक रक्षा समिति मे हमारी भलाई सोच रहे है।" परन्तु 'वहा' तो नेतागण दुनिया भर की बातो पर विवाद किया करते है, केवल जनता के हित की चर्चा नही करते। १७९३ मे जब फ्रास मे दुष्काल पड गया और उसने क्राति को पगु कर दिया, जब लोगो की बुरी दशा हो रही थी, यद्यपि बाजारो मे शानदार बग्घियो की भीड वैसी ही लगी रहती थी और स्त्रिया बढिया-बढिया आभूषण और पोशाकें पहन

कर निकलती थी, तब राब्सपियर जैकीबन दल वालो से आग्रह कर रहा था कि वे इग्लैण्ड की राज्य-व्यवस्था पर लिखे हुए उसके ग्रथ पर बहस ही कर ले। १८४८ मे मजदूर लोग तो व्यापार-व्यवसाय बन्द हो जाने के कारण कष्ट पा रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्र सभा इसपर झगड़ रही थी कि सिपाहियो की पेशन क्या दी जाय और जेलखानो मे मशक्कत कैसी ली जाय ? उन्हे उस बात की फिक्र न थी कि जनता इस विपत्तिकाल मे किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिस की कम्यून-सरकार (१८७० ई०), जो प्रशिया की तोपो की छाया मे जन्मी थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पाई, उसने भी यही गलती की। उसने नही समझा कि अपने योद्धाओ को पेटभर खिलाये विना क्राति सफल कैसे होगी और सिर्फ थोडा-सा दैनिक वेतन नियत कर देने से ही कैसे कोई आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवार का पोपण करेगा।

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है—"इन कठिनाइयो से पार पाने का उपाय क्या है ?"

इस प्रश्न का एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमे यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वर मे उसकी घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को और सब बातो के पहले जीवित रहने का अधिकार है, फिर चाहे वह मनुष्य समाज मे किसी भी श्रेणी का हो, बलवान हो या निर्वल, योग्य हो अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाज के हाथ मे जीवन के जितने साधन है उनको सबमे निरपवाद रूप से बाट देना उसका कर्त्तव्य है। हमे इस सिद्धान्त को मानकर उसपर चलना भी चाहिए।

क्राति के प्रथम दिन से ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन युग का उदय हो गया। भविष्य मे किसीको पास मे महल होते हुए पुल के नीचे दुबककर सोने की मजबूरी न होगी, धन का बाहुल्य रहते हुए किसको भूखो न मरना पडेगा। सब

चीजें सबके लिए हैं, यह बात कोरी कल्पना ही न रहेगी, व्यवहार मे भी चरितार्थ होगी। क्राति के प्रथम दिन से ही श्रमजीवी को यह मालूम पडना चाहिए कि इतिहास मे पहली ही बार ऐसी क्राति हुई है जो जनता को उसके कर्त्तव्यो का उपदेश देने से पूर्व उसकी आवश्यकताओ का विचार करती है।

यह सब कानून से न होगा। काम करने का एकमात्र सच्चा ओर वैज्ञानिक ढग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढग जिसे सर्वसाधारण समझ सके और चाहते है। वह यह है कि सबके सुख-सम्पादन के लिए आवश्यक साधनो पर तुरन्त और पक्का कब्जा कर लिया जाय। अन्न-भण्डारो, कपडे की दुकानो और निवास-स्थानो पर जनता का अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज बर्बाद न होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकार का सगठन करना चाहिए कि भूखो को भोजन मिले, सबकी आवश्यकताए पूरी हों और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि उससे व्यक्ति या समूह विशेप को ही लाभ न पहुचे बल्कि सारे समाज के जीवन और विकास को सहायता मिले।

फ्रास की १८४८ की क्राति मे 'काम करने का अधिकार' इस वाक्य-खड से लोगो को धोखा दिया गया और अब भी ऐसे ही दोमानी वाक्यो से धोखा देने की कोशिश होती है, परन्तु अब इनकी जरूरत नही है। हमें साहस करके 'सबके सुख' के सिद्धान्त को स्वीकार करना और उसकी सम्भावना को पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ मे जब श्रमजीवियो ने काम करने के अधिकार का दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारखाने बनाये गए और वहा वे २० पेस रोजाना मजदूरी पर पिसने के लिए भेज दिये गए। जब उन्होंने कहा कि 'श्रमिको का सगठन' होना चाहिए तो जवाब दिया गया—"मित्रो, धैर्य रखो। सरकार इसका इतजाम कर देगी। अभी तो तुम मजदूरी लेते चलो। वीर श्रमिको, जीवन-भर भोजन के लिए युद्ध किया है, अब तो जरा आराम ले लो!" इस बीच तोपे सुधार ली गईं, फौज बुला ली गई और मध्यम वर्ग की जानी हुई तरह-तरह की तरकीबो से श्रमिक निःशस्त्र कर दिये गए। यहा तक कि जून १८४८ के एक दिन, पिछली सरकार को

उलट देने के चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि अफ्रीका मे जाकर बसो, नही तो गोलियो के निशाना बना दिये जाओगे ।

परन्तु सुखपूर्वक जीवित रहने के अधिकार पर आरूढ होने मे जनता इससे महत्त्वपूर्ण दूसरे अधिकार की भी घोषणा करती है । वह यह कि इस बात का निर्णय भी वही करेगी कि उसको सुख किन चीजो से मिलेगा, उस सुख की प्राप्ति के लिए कौन-कौन-सी वस्तुए उत्पन्न करनी होगी और किस-किसको निकम्मी समझकर फेंक देना होगा ।

'काम करने का अधिकार' और 'सबका सुख' इन दोनो सिद्धान्तो का भेद समझने योग्य है । पहले का अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोडी-सी मजदूरी का दास बना रहे, कठोर परिश्रम करने को विवश हो, उसपर मध्यम वर्ग के लोगो का शासन बना रहे और वे उसका रक्त-शोषण करते रहें । दूसरे सिद्धान्त का अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्यो की भाति रह सके और उसकी सतान को वर्त्तमान से अच्छा समाज मिले । अब समय आ गया है कि व्यापारवाद की चक्की मे न पिसते रहकर सामाजिक क्राति की जाय और श्रमजीवियो को उनके नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हो ।

: ८ :

# जेल से भागना

दो साल बीत चुके थे । मेरे साथियो मे से कई मर चुके थे, बहुत-से पागल हो गए थे , लेकिन हमारे मुक्दमे की सुनवाई की कोई चर्चा ही नही थी । मेरा स्वास्थ्य भी दूसरे वर्ष का अन्त होते-होते गिरने लगा था । लकडी का स्टूल (जिससे कसरत करता था) भारी लगने लगा और पाच मील का टहलना मानो बडा लम्बा सफर । चूकि किले मे हम लोग साठ कैदी थे और जाडो मे दिन छोटे होते थे, हममे से प्रत्येक तीसरे दिन सिर्फ बीस मिनट के लिए बाहर टहलने ले जाया जाता था । मैंने अपनी शक्ति को बनाये रखने की भरसक कोशिश की थी, लेकिन पूरे साल-भर उत्तरी

ध्रुव की सर्दी मे रहने का असर होना ही था। साइबेरिया की यात्रा के बाद मेरे शरीर मे रक्त-रोग के जो लक्षण प्रकट होने लगे थे, वे अब कोठरी की नमी और अधेरे के कारण पूरी तरह से व्याप्त हो गए। इस तरह की जेल की उस भयकर बीमारी का मेरे शरीर पर पूरा-पूरा असर हो गया।

आखिर १८७६ के मार्च अथवा अप्रैल मे हमे बताया गया कि तीसरे दस्ते (खुफिया पुलिस) ने प्रारम्भिक छान-बीन पूरी कर ली है और हमारा मुकदमा न्यायाधीशो के पास भेज दिया गया है। इसलिए हम अब कचहरी के पासवाली जेल मे भेज दिये गए। यह जेल चार मजिल की एक बडी भारी इमारत थी, जिसमे कोठरी-ही-कोठरी थी। यह फ्रास और बेलजियम के कारागारो के नमूने पर हाल ही मे बनी थी। प्रत्येक कोठरी मे आगन की तरफ एक खिडकी थी और लोहे के छज्जो की ओर एक दरवाजा था। चारो मज़िलो के ये छज्जे लोहे के एक जीने से मिले हुए थे।

हममे से अधिकाश को इस जेल मे आना अच्छा लगा। यहा उस किले से कही अधिक चहल-पहल थी और बाहर के आदमियो से पत्र-व्यवहार, अपने रिश्तेदारो से मिलने अथवा आपस मे बातचीत करने की सुविधा भी अधिक थी। बिना किसी रोक-थाम के दीवारो पर ठुक-ठुक जारी रहती थी। इसी तरह मैने अपने पडोसी युवक को पेरिस-कम्यून का सारा इतिहास सुना दिया, पर इसमे लगभग एक सप्ताह लग गया।

लेकिन मेरा स्वास्थ्य और भी खराब हो गया। उस तग कोठरी का, जो एक कोने से दूसरे कोने तक सिर्फ चार कदम थी, सकीर्ण वातावरण मुझे असह्य था। जैसे ही भाफ की नलिया चालू की जाती, वह बर्फ-जैसी ठडी कोठरी एकदम हद से ज्यादा गरम हो जाती। कोठरी मे टहलने के लिए जल्दी-जल्दी मुडना पडता था, इसलिए थोडी देर मे ही चक्कर आने लगते और दस मिनट की खुली हवा की कसरत भी, आगन तग होने के कारण, स्फूर्तिप्रद नही होती थी। जेल का वह डाक्टर, जिसके विषय मे जितना कम कहा जाय, उतना ही अच्छा, 'अपनी जेल मे' 'रक्त-रोग' का नाम भी नही सुनना चाहता था!

मुझे घर से खाना मगाने की अनुमति मिल गई थी, क्योकि मेरे एक रिश्तेदार वकील इस जेल के नजदीक ही रहते थे। लेकिन मेरी पाचन-क्रिया इतनी खराब हो गई थी कि मुश्किल से रोटी का छोटा टुकडा और एक-दो अडे खा पाता। मेरा स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिरने लगा और लोग कहने लगे कि अब मै बहुत दिनो जीवित नही रह सकूगा। अपनी कोठरी मे जाने के लिए जब मै जीना उतरता था, तो मुझे दो-तीन बार रुकना पडता था। मुझे याद है कि एक वृद्ध पहरेदार सिपाही ने मुझसे कहा था—"दु ख है कि तुम इस बसन्त के आखिर तक न बच सकोगे।"

मेरे रिश्तेदार अब अत्यन्त चिन्तित हो गए। मेरी बहन हेलेन ने मुझे जमानत पर छुडाने का प्रयत्न किया, लेकिन शूबिन (अफसर) ने व्यग से मुसकराते हुए उत्तर दिया—"अगर तुम डाक्टर का लिखा हुआ यह सार्टी-फिकेट ले आओ कि तुम्हारा भाई दस दिन के भीतर मर जायगा, तो मै उसे छोड दूगा!" मेरी बहन यह जवाब पाकर कुर्सी पर धडाम से गिर गई और अफसर के सामने ही सिसकने लगी, जिससे उसे सन्तोष ही हुआ होगा! लेकिन अन्त मे उसने अपनी यह प्रार्थना मजूर करा ही ली कि मेरा इलाज सेण्ट पीटर्सबर्ग मे फौजी अस्पताल के सबसे बडे डाक्टर द्वारा होना चाहिए। इस वृद्ध होशियार डाक्टर ने बहुत ही अच्छी तरह मेरी जाच की और वह इस निर्णय पर पहुचा कि मुझे कोई भयकर शारीरिक बीमारी नही, केवल शुद्ध वायु न मिलने के कारण रक्त-रोग हो गया है। उसने मुझसे कहा—"केवल शुद्ध वायु की ही तुमको जरूरत है।" थोडी देर के लिए वह असमजस मे रहा और तत्पश्चात् उसने निश्चयपूर्वक कहा—"ज्यादा बातचीत फिजूल है। तुम्हे किसी भी हालत मे यहा न रहने दिया जाना चाहिए, दूसरी जगह भेजना ही है।"

दस दिन बाद मुझे एक फौजी अस्पताल मे भेज दिया गया। यह अस्पताल सेण्ट पीटर्सबर्ग के बाहर बना था। इसमे बीमार अफसरो और कैदियो के लिए एक छोटी जेल भी थी। मेरे दो साथी, जब यह निश्चित हो चुका कि वे शीघ्र ही तपेदिक से मर जायगे, इसी जेल मे भेजे गए थे। यहा जल्दी ही

मेरी तन्दुरुस्ती ठीक होने लगी। मुझे फौजी गार्ड के कमरे के पास ही एक बडा कमरा मिला। कमरे मे दक्षिण की तरफ लोहे के सीकचो की एक खिडकी थी। खिडकी के सामने एक सडक थी, जिसके दोनो तरफ हरे-भरे पेड थे, और सडक के उस पार खुली जगह थी, जहा २०० बढई मियादी बुखार के रोगियो के रहने के लिए छोटे-छोटे कमरे बनाते थे। रोज रात को करीब एक घटे तक ये बढई मिलकर गाना गाते थे। एक सतरी जो मेरे कमरे पर ही तैनात था, सडक पर पहरा देता रहता था।

मैं खिडकी को दिन भर खुली रखता और धूप के, जो मुझे मुद्दत से नसीब नही हुई थी, मजे लिया करता। यहा बसन्त की स्वच्छ वायु मे अच्छी तरह सास लेने का अवसर मिला और मेरा स्वास्थ्य ठीक होने लगा। मैं हल्का खाना पचा लेता, ताकत भी महसूस होने लगी और मैंने अपना काम फिर नये उत्साह से आरम्भ कर दिया। जब मैंने देखा कि मै अपनी पुस्तक का दूसरा भाग किसी भी तरह समाप्त नही कर सकता, तो उसका साराश ही लिख डाला—यह बाद को पहले भाग मे ही छपा।

किले मे मैंने एक साथी से, जो इस अस्पताल मे रह चुका था, सुना था कि यहाँ से भाग जाना बहुत मुश्किल नही है। शीघ्र ही मैंने अपने मित्रो को यहाँ आने की सूचना दे दी। लेकिन भागना उतना आसान नही था, जितना मेरे दोस्तों ने मुझसे कह रखा था। मेरा पहरा ओर भी ज्यादा कडा कर दिया गया और मेरा कमरे से बाहर निकलना भी बन्द कर दिया गया। अस्पताल के सिपाही और सतरी यदि कमरे मे आते, तो एक या दो मिनट से ज्यादा नही ठहरते थे।

मित्रो ने मेरे छुटकारे के लिए कई एक योजनाएँ बना । कुछ तो उनमें अत्यन्त मनोरजक थी। उदाहरण के लिए एक योजना यह थी कि मैं खिडकी के लोहे के सीकचे काट लू । फिर किसी बरसात की रात को, जब सतरी अपने बक्स मे झपकी ले रहा हो, दो मित्र पीछे से आकर इस सन्दूक को इस होशियारी से उलट दे कि उसे चोट भी न लगे और वह सन्दूक मे ढँक जाय। और इसी बीच मैं खिडकी से बाहर कूद जाऊँ। लेकिन अचानक

इससे अच्छी तरकीव निकल आई।

"वाहर टहलने की अनुमति माँगो।"—एक सिपाही ने धीरे-से मुझसे कहा। मैंने तदनुसार प्रार्थना की। डाक्टर ने मेरा समर्थन किया और हर रोज़ तीसरे पहर चार वजे के लगभग मुझे टहलने की आज्ञा मिल गई।

उस पहले दिन को, जव मै टहलने निकला, मै कभी नही भूलूँगा। निकलते ही मैंने देखा कि करीव २०० गज लम्वा और १५० गज चौडा हरी घास का आँगन है। फाटक खुला रहता और उसमे से अस्पताल, सडक और उसके राहगीर दीखते थे। जव मै जेल की सीढियो से उतरता, तो आँगन और उस फाटक को देखते ही रह जाता, मानो पैर ही रुक गए हो। आँगन मे एक तरफ जेल थी—करीव १०० गज़ लम्वी छोटी इमारत थी, जिसके दोनो तरफ सतरियो के छोटे वक्स थे। दोनो सतरी जेल के सामने इधर-से-उधर चक्कर लगाते रहते और इस तरह घास पर एक पगडडी ही वन गई थी। मुझसे कहा गया कि मैं इसी पगडडी पर टहला करूँ। चूकि दोनो सतरी भी इसीपर टहलते रहते थे, इसलिए मेरे और किसी सतरी के वीच का फासला कभी १०-१२ गज़ से ज्यादा न रहता, और अस्पताल के तीन सिपाही सीढियो पर वैठकर चौकसी करते रहते।

इस वडे अहाते की दूसरी ओर जलाऊ लकडी गाडियो से उतारी जा रही थी और कई किसान उसे दीवार के सहारे लगा रहे थे। अहाते के चारो तरफ मोटे तख्तो की दीवार थी और उसका फाटक गाडियो के आने-जाने के लिए खुला रहता था। यह खुला फाटक मुझे वहुत अच्छा लगता। मन में सोचता, "मुझे इस तरफ दृष्टि नही गडानी चाहिए।" फिर भी उसी तरफ देखता रहता। पहले दिन जव मुझे कोठरी मे वापस पहुँचाया गया तो तुरत वाहर के मित्रो को काँपते हुए हाथो से अत्यन्त अस्पष्ट अक्षरो मे मैंने लिखा—"इस समय इशारे की भाषा मे लिखना असम्भव-सा प्रतीत होता है। यहाँ मे भागना इतना आसान लगता है कि वुखार-जैसी कँपकँपी मालूम होती है। आज ये लोग मुझे वाहर आँगन मे टहलाने ले गए थे। वहा फाटक खुला था और नजदीक कोई सतरी भी न था। इस फाटक से मैं निकल भागूंगा, यहाँ

के संतरी मुझे पकड नही सकेगे।" और फिर मैने अपने भागने की तरकीव का खुलासा लिखा—"एक महिला को खुली गाडी मे अस्पताल आना है। वह गाडी से उतरे। गाडी फाटक से लगभग ५० कदम की दूरी पर खडी रहे। फाटक के वाहर एक आदमी टहलता रहे। जब चार बजे मैं टहलने के लिए निकाला जाऊँ, तो थोडी देर हाथ मे टोप लिए टहलूगा। यह आदमी इसका मतलव समझे कि यहाँ मेरी तैयारी है। फिर आप लोगो को इशारा करना है कि 'सडक साफ है'। विना तुम्हारे इशारे के मै नही भागूँगा, और जब एक दफा फाटक से वाहर हो जाऊँ तो गिरफ्तार नही होना है। या तो आप लोग सामने का हरा बँगला, जो यहाँ से साफ दीखता है, किराये पर ले ले और उसकी खिडकी से इशारा कर दे, और यदि यह सम्भव न हो, तो अपना इशारा रोशनी या आवाजो से करना, जैसे गाडीवान किसी तरह उजाला कर दे। इससे भी बेहतर होगा कि कोई गाना होता रहे, जिसका मतलव होगा कि सडक साफ है। संतरी शिकारी कुत्ते की तरह मेरा पीछा करेगा, लेकिन किसी तरह मै उससे १०-५ कदम आगे ही रहूँगा। सडक पर मै गाडी मे झपटकर वैठ जाऊँगा और फिर हम लोग भाग जायगे। अगर इस बीच संतरी गोली मार देता है, तो फिर चारा ही क्या है! उससे वचना अपनी सूझ से वाहर है। फिर यहाँ जेल के भीतर निश्चित मौत के मुकावले मे यह खतरा कुछ बुरा तो है नही।"

कई सुझाव और भी दिये गए, लेकिन आखिर मे यही तरकीव स्वीकृत हुई। हमारे मित्रो ने तैयारियाँ शुरू कर दी। इसमे कुछ ऐसे सज्जनो ने भी भाग लिया, जो मुझे विल्कुल न जानते थे। फिर भी उनका जोश ऐसा था, मानो उनके अत्यन्त प्रिय मित्र का छुटकारा होने जा रहा हो। लेकिन इस उपाय मे कुछ मुश्किले थी और समय कम रह गया था। मै खूव मेहनत करता, रात तक लिखता रहता, लेकिन फिर भी मेरा स्वास्थ्य अच्छा होने लगा—इतनी जल्दी कि स्वयं मुझे आश्चर्य होता! जब मैं पहले दिन आँगन मे लाया गया था तो धीरे-धीरे चलने में भी थकान मालूम होती थी और अव मै दौड सकता था! लेकिन मै तो उसी तरह धीरे-धीरे टहलता

था, वरना मेरा टहलना ही वन्द कर दिया जाता। डर लगता रहता कि कहीं मेरी स्वाभाविक फुर्ती सारा भेद न खोल दे। और स बीच मेरे साथियो को इसके लिए वहुत-से आदमी जुटाने थे, एक तेज़ घोडा और अनुभवी गाडीवान ढूँढना था और ऐसी बीसियो बाधाओ का भी खयाल करना था जो इस तरह के षड्यत्र मे तत्काल उपस्थित हो जाती है। इन सव तैयारियो मे लगभग एक माह लग गया और इस बीच किसी भी दिन मुझे पुरानी जेल मे भेजा जा सकता था।

आखिर भागने का दिन निश्चित हो गया। पुराने रिवाजो के अनुसार २९ जून सत पीटर और सत पाल का दिन है। मेरे मित्रो ने अपने ड्यत्र मे थोडी भावुकता का पुट देकर मेरे छुटकारे के लिए इसी दिन को निश्चित किया। उन्होने मुझे सूचित कर दिया था कि जव मै अपनी तैयारी का इशारा करूँगा, तो वे एक लाल गुब्बारा उडाकर मुझे जता देगे कि बाहर सव ठीक है। फिर एक गाडी आवेगी, और आखिर मे एक गाना होगा, जिससे मुझे मालूम हो जाय कि सडक साफ है।

२९ तारीख को मै बाहर निकला और टोप उतारकर गुब्बारे का इन्तज़ार करने लगा। लेकिन वहाँ कुछ भी न था। आधा घटा बीता, सडक पर गाडी की खडखडाहट सुनाई दी। एक आदमी को गाते हुए भी सुना, लेकिन गुब्बारा नज़र नही आया। आधा घटा खत्म हुआ और मै अत्यत निराश होकर अपने कमरे मे लौट आया। सोचा कि कुछ वाधा आ गई होगी।

उस दिन सचमुच अनहोनी हो गई थी। सेण्ट पीटर्सबर्ग मे सैकडो गुब्बारे वाजार मे विका करते है, लेकिन उस दिन एक भी गुब्बारा न था। एक छोटे वच्चे से एक गुब्बारा लिया, लेकिन वह पुराना था, उडा ही नही। मेरे मित्र फिर एक चश्मेवाले की दूकान से हाइड्रोजन वनाने का यत्र लाये। उससे एक गुब्बारा भरा भी, लेकिन वह उडा ही नही। हाइड्रोजन मे नमी रह गई थी। समय थोडा वचा था। फिर एक छाते मे गुब्बारे को वाधा और एक महिला इस छाते को ऊँचा करके अहाते की दीवार के सहारे सडक पर चली, लेकिन

मुझे कुछ भी न दीख पडा—दीवार बहुत ऊँची थी और वह महिला बहुत ठिगनी। बाद को ज्ञात हुआ कि उस दिन गुब्बारे का न मिलना ही ठीक हुआ। जब मेरे भागने का समय निकल गया, तो गाडी पूर्व-निश्चित रास्ते पर दौडाई गई। उसी सडक पर दस-बारह गाडियाँ अस्पताल के लिए लकडी ढो रही थी। इन गाडियो के कुछ घोडे दाई ओर भागे, कुछ बाईं ओर। नतीजा यह हुआ कि हमारी गाडी बहुत धीमे-धीमे चल सकी और एक मोड पर तो बिल्कुल ही रुक गई। अगर मैं उसमे होता तो निश्चित रूप से पकड़ लिया गया होता।

अब उस सडक पर कई जगह इशारे देने का प्रबन्ध किया गया, जिससे मालूम हो जाय कि सडक साफ है या नही। अस्पताल से दो मील की दूरी तक मेरे साथी सतरियो की तरह खडे हुए। एक साथी हाथ मे रूमाल लिए सडक पर टहलता था—यदि सामने गाडी दीखे तो वह रूमाल जेब मे रख ले। दूसरा साथी मूँगफली खाते हुए एक पत्थर पर तैनात था—जैसे ही गाड़ियाँ दीखे, मूँगफली खाना बन्द कर दे। ये सब इशारे विभिन्न मित्रो द्वारा आखिर उस घोड़ागाडी तक पहुँचने थे। मेरे मित्रो ने सामने का हरा बंगला भी, जो फाटक के सामने ही था, किराये पर ले लिया था, और जैसे ही सडक साफ हो, उसकी खिडकी मे एक आदमी को वायलिन बजाना था।

अब अगला दिन निश्चित हुआ। ज्यादा देरी खतरनाक होती। वास्तव मे अस्पताल के अधिकारियों ने गाडी का आना-जाना नोट कर लिया था। कुछ सदेहात्मक खबरे भी उनके पास अवश्य पहुँच गई होंगी, क्योकि भागने से एक रात पहले मैंने अफसर को सतरी से कहते हुए सुना था—"तुम्हारे कारतूस कहा है।" संतरी ने अपने कारतूस निकाल लिये तो अफसर ने कहा—"क्या तुमसे नही कहा गया कि आज रात को चार कारतूस अपनी जेब मे तैयार रखना ?" और वह तबतक वहा खडा रहा, जबतक सतरी ने चारो कारतूस अपनी जेब मे न रख लिये। जब वह चलने लगा तो फिर आज्ञा दी—"मुस्तैद रहो!"

उन सब इशारों की रूप-रेखा मुझ तक पहुँचानी थी। दूसरे दिन दो

बजे मेरी एक रिश्तेदार महिला जेल आई, मुझे घडी देने। वैसे तो मेरे पास हर चीज़ एक अफसर के मार्फत आती थी, लेकिन चूकि यह घडी खुली थी, मेरे पास सीधी पहुँचा दी गई। इस घडी मे एक छोटा पुर्जा था जिसमे सारी तरकीब लिखी थी। मै तो उसे पढकर काप गया। कितनी हिम्मत और कैसी दिलेरी का काम था! यदि किसीने घडी के ढक्कन को खोल लिया होता, तो वह महिला, जिसका पीछा पुलिस पहले से ही कर रही थी, तुरन्त वही गिरफ्तार हो जाती। लेकिन मैने देखा कि वह जेल के बाहर सडक पर निकल गई और नौ-दो-ग्यारह हो गई।

सदैव की भाति मै चार बजे बाहर निकल आया और मैने अपना इशारा कर दिया। थोडी देर मे गाडी की खडखडाहट सुनाई दी और हरे बगले से वायलिन की ध्वनि भी आई। लेकिन उस वक्त मै अहाते के दूसरे कोने पर था। मै फाटक की तरफ चला—मन मे सोचा, 'बस, कुछ क्षण और!' लेकिन फाटक के पास पहुँचते ही सहसा वायलिन बजना बन्द हो गया। करीब १५ मिनट बडी फिक्र मे बीते। सोचता, 'वायलिन बन्द क्यो हो गया!' कुछ समय बाद ही देखा कि कोई एक दर्जन गाडिया फाटक से अहाते मे आई। तुरन्त ही वायलिनवाले सज्जन ने एक जोशीली चीज़ छेडी, मानो कह रहा हो—"बस, यही वक्त है, आखिरी मौका!" मै धीरे-धीरे कापता हुआ फाटक की ओर चला—इस आशका मे कि कही वायलिन फिर बन्द न हो जाय!

फाटक पर पहुँचकर मैने मुडकर देखा कि सतरी ५-६ कदम पीछे था और उल्टी तरफ देख रहा था। 'बस यही मौका है'—मेरे मन मे आया। तुरन्त मैने जेल की पोशाक उतार फेकी और दौडने लगा। उस लम्बी-चौडी पोशाक को उतारने का अभ्यास मै बहुत दिन से कर रहा था। वह कोट इतना बडा था कि किसी भी तरह एक सपाटे मे उतरता ही नही था। मैने उसकी बाहो के नीचे की सिलाई काट दी, फिर भी काम नही चला। आखिर मैने उसे दो हरकतो मे उतारने का अभ्यास प्रारम्भ किया, पहले उसे बाह से उतारता और बाद मे उसे तुरन्त जमीन पर पटकता। धीरे-धीरे मै इस क्रिया मे पारगत हो गया।

मुझे अपनी शक्ति पर वहुत विश्वास नही था, इसलिए दम बाकी रखने के लिए शुरू मे धीरे-धीरे दौडा। लेकिन मैं कुछ ही कदम भागा होऊँगा कि किसान, जो दीवार के सहारे लकडी लगा रहे थे, चिल्लाने लगे—"पकडो! पकड़ो! वह भाग रहा है!" और वे मुझे फाटक पर रोकने भी दौड़े। अव तो मैं पूरे जोर से दौडा। मेरे मन मे बस केवल एक ही बात थी—'वस दौड़ो!' फाटक के नजदीक गाडियो ने जो गड्ढे बना दिये थे, उनका भी मैंने ख्याल नही किया।

मेरे मित्रो ने जो हरे बँगले से मुझे भागते देख रहे थे, बाद मे वताया कि सतरी ने तीन सिपाहियो के साथ मेरा पीछा किया। सतरी और मेरे बीच फासला कम था और उसे वरावर यही विश्वास बना रहा कि वह मुझे पकड लेगा। कई दफा उसने अपनी वन्दूक की सगीन मेरी पीठ मे भोकने के लिए आगे वढाई भी। एक दफा तो मेरे मित्रो को मालूम पडा कि मार ही दी। सतरी को पूरा विश्वास था कि वह मुझे पकड लेगा और इसीलिए उसने गोली नही दागी। लेकिन मैं उससे आगे ही रहा और अन्त मे तो वह विल्कुल पिछड गया!

फाटक के वाहर निकलकर देखा तो दंग रह गया—गाडी मे एक अफसर फौजी टोप पहने वैठा था, उसने मेरी तरफ देखा भी नही। मन मे सोचा, 'वस, खात्मा हो गया!' मित्रो ने लिखा था कि सडक पर आने के बाद हर्गिज न घवराना। वहा तुम्हारी रक्षा के लिए कई साथी उपस्थित रहेगे। मैंने निश्चय किया कि जिस गाडी मे दुश्मन वैठा है, वहा न वैठू। लेकिन जैसे-ही मैं गाडी के करीव पहुँचा, मैंने देखा कि इस अफसर के मेरे एक पुराने दोस्त की तरह के भूरे गलमुच्छे है। वह दोस्त हमारे गुट मे तो नही था, लेकिन मेरा निजी मित्र था और उसकी दिलेरी, और खासकर खतरे के मौके पर उसकी हिम्मत् को मैं जानता था। मन मे सोचा, 'वह यहा इस वक्त कैसे आ सकता है!' मैं उसका नाम लेकर पुकारनेवाला ही था, लेकिन फिर अपनेको जब्त किया और उसका ध्यान आकर्पित करने के लिए तालिया पीटी। अव उसने मेरी ओर मुँह किया और तुरन्त मैं उसे पहचान गया!

वह रिवाल्वर हाथ मे लिए तैयार था। मुझसे कहा—"जल्दी बैठो।" और तुरन्त गाडीवान से कहा—"जल्दी भगाओ, नही तो तुम्हारी जान की खैर नही।" घोडा बहुत ही अच्छा था। वह खास इसी मौके के लिए लाया गया था। पूरी तेजी से दौडा। पीछे से सैकडो आवाजे आ रही थी—"पकडो! पकडो! भाग न जाय!" मेरे मित्र ने उसी समय मुझे एक शानदार ओवर-कोट पहना दिया। लेकिन पीछा करनेवालो से भी ज्यादा खतरा उस सतरी से था, जो अस्पताल के फाटक पर ही तैनात था, गाडी के खडे होने की जगह के ठीक सामने। वह थोडा ही आगे बढकर आसानी से मुझे गाडी मे चढने से रोक सकता था। इसलिए एक मित्र को इस सिपाही का ध्यान बँटाने के लिए रखा गया था। और इस मित्र ने किया भी वह काम बडी खूबी से। वह सिपाही पहले अस्पताल के रसायन विभाग मे काम कर चुका था। मेरे मित्र ने खुर्दबीन और उसके द्वारा दीखनेवाली चीजो के बारे मे उससे बहस छेड दी। मनुष्य-शरीर पर रहनेवाले एक कीटाणु के विषय मे उसने सिपाही से पूछा—"तुमने कभी देखा है कि उसके कितनी लम्बी पूँछ होती है?" "क्या बकते हो? पूँछ?" फिर उसने कहा—"जी हा, उसके पूँछ होती है और काफी बडी, खुर्दबीन से साफ दीखती है।" सिपाही ने उत्तर दिया—"अच्छा, अपने ये किस्से तुम मुझे न सुनाओ।" मेरे मित्र ने फिर कहा—"मै इसके बारे मे ज्यादा जानता हूँ—सबसे पहले तो खुर्दबीन से मैने पूँछ ही देखी थी।" जब मै उनके नजदीक से भागकर झपाटे के साथ गाडी मे बैठा, तो यही बहस चल रही थी। पाठको को यह घटना किस्से-कहानी-सी जँचेगी, पर है यह पूर्णतया सत्य।

गाडी तुरन्त एक तग गली मे मुड गई—उसी दीवार की तरफ, जिसके सहारे किसान लकडी रख रहे थे। अब ये सब किसान मेरा पीछा करने मे लगे थे। गाडी ने मोड इतने सपाटे से लिया कि करीब-करीब उलट ही गई। मै तुरन्त आगे की ओर बढ गया और मित्र को भी आगे खीच लिया, इससे गाडी उलटने से बच गई। तग सडक को पारकर हम बाई तरफ मुडे। वहा एक सार्वजनिक संस्था के सामने दो सशस्त्र सिपाही खड़े

थी। उन्होंने हमारे साथी की फौजी टोपी को सलामी दी। वह अब भी काफी उत्तेजित था, इसलिए मैंने उससे कहा—"शात हो !" उसने उत्तर दिया—"सब ठीक हो रहा है, फौजी आदमी हमें सलामी दे रहे हैं।" अब गाडीवान ने मेरी तरफ मुँह किया। मैंने देखा कि वह भी अपना एक पुराना दोस्त है। हमारा घोडा तेज चाल से भागा जा रहा था। हर जगह हमें मित्र खड़े मिले। वे हमें इशारा कर रहे थे और हमारी सफल यात्रा के लिए मगल-कामनाए ! अब हम एक दरवाजे पर उतरे और गाडी को आगे भेज दिया। मै सीधा जीना चढ गया और अपनी साली से मिला। वह बेहद खुश हुई और साथ अत्यत ही चिन्तित भी। हर्ष और विषाद के आँसू उसकी आँखो मे थे। उसने मुझे तुरन्त दूसरी पोशाक पहनने और अपनी विख्यात दाढी को मुडा डालने के लिए कहा। दस मिनट के भीतर मेरा मित्र और मै घर से चल दिये और एक दूसरी गाडी ले ली।

इस बीच अस्पताल के पहरेदार सिपाही और उनका अफसर बाहर निकले और सोचने लगे कि क्या किया जाय। आस-पास एक मील तक कोई गाडी ही न थी; सभी गाडिया हमारे मित्रो ने किराये पर ले रखी थी। उस भीड की एक किसान बुढिया इन सबसे होशियार थी। उसने धीरे-से कहा—"बेचारे कैदी ! वे लोग प्रोसपैक्ट पर अवश्य पहुँचेगे, और अगर कोई आदमी इस राह दौडकर सीधा वहा पहुँचा तो वे सचमुच ही पकडे जायगे।" वह बिलकुल ठीक कह रही थी। अफसर नजदीकवाली गाडी पर गया और उन आदमियो से प्रार्थना की कि वे घोडे दे दे, लेकिन उन्होंने देने से साफ इन्कार कर दिया और अफसर ने भी बल-प्रयोग नही किया ! और वे वायलिन बजाने-वाले सज्जन और वह महिला भी, जिन्होंने हरा बगला किराये पर लिया था, बाहर निकल आये और उस बुढिया के साथ भीड मे शामिल हो गये ! जब भीड छट गई तो वे भी चम्पत हो गए !

उस दिन तीसरे पहर मौसम भी अच्छा था। हम लोग उन टापुओ की ओर चल दिये, जिधर सेण्ट पीटर्सबर्ग के अधिकाश उच्च श्रेणी के लोग बसन्त ऋतु मे सूर्यास्त देखने जाया करते थे। रास्ते मे बगल की सड़क पर एक

नाई की दूकान पर मैंने अपनी दाढी भी सफाचट करा ली। अब मुझे पहचानना काफी मुश्किल था। हम लोग उन टापुओ मे अपनी गाडी मे इधर-से-उधर काफी देर तक चक्कर लगाते रहे। हमसे कह दिया गया था कि अपने रात के विश्राम-स्थल पर जरा देर से पहुँचे। अब सवाल था, इस बीच कहा जाय ? मैंने साथी से पूछा—"अब क्या करे ?" वह भी थोडी देर सोचता रहा और फिर तुरन्त गाडीवान से कहा—"डोनोन होटल ले चलो।" यह सेण्ट पीटर्सबर्ग का सबसे शानदार होटल था। वह बोला—"तुम्हे देखने के लिए कोई भी आदमी उस आलीशान होटल मे न पहुँचेगा। वे तुम्हे सब जगह ढूढेगे, लेकिन उस जगह का किसीको खयाल भी न आवेगा। वहा हम लोग भोजन करेगे और फिर कुछ सुरापान भी! तुम्हारे छुटकारे की सफलता की खुशी मे।"

भला, ऐसे मुनासिब सुझाव का मै जवाब ही क्या देता! इसलिए हम लोग डोनोन पहुँचे। रात के भोजन का समय था। कमरो मे शानदार उजाला हो रहा था और वे आदमियो से भरे थे। उन सबको हमने पार किया और एक अलग कमरा किराये पर लिया और वहा तबतक रहे, जबतक पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर हमारे पहुँचने का समय नही हो गया। जिस मकान में हम पहले-पहल उतरे थे, उसकी तलाशी हमारे वहा से हटने के थोडी देर बाद ही हो गई। लगभग सभी मित्रो के घरो की तलाशी हुई, लेकिन डोनोन मे ढूढने की किसीको न सूझी!

दो दिन बाद मुझे एक कमरे मे चले जाना था जो, मेरे लिए एक फर्जी नाम से किराये पर ले लिया गया था। लेकिन जो महिला मेरे साथ जानेवाली थी, उन्होने उस मकान को पहले देख आने की होशियारी की। उस मकान के चारो तरफ जासूस थे! कई मित्र मुझसे कहने आये कि वहा जाना अब खतरे से खाली नही! पुलिस अत्यत सतर्क हो गई थी। खुफिया-विभाग ने मेरी तस्वीर की सैकडो प्रतिया छपवाकर बटवा दी थी। जो जासूस मुझे पहचानते थे, मुझे सडको पर तलाश कर रहे थे। जो पहचानते नही थे, वे उन पहरेदारो को साथ लिए घूम रहे थे, जिन्होने मुझे जेल मे देखा था। जार बहुत ही क्रुद्ध था कि उसकी राजधानी मे ही मै दिन-दहाडे इस तरह भाग

गया। उसने हुक्म दे दिया था—"क्रोपाटकिन को जरूर ही पकडना ह।"

सेण्ट पीटर्सवर्ग मे बने रहना असभव था, इसलिए मैं नजदीक के गांवों मे छिपा रहा। पांच-छ दोस्तों के साथ म उस गाव मे रहा, जहा इस मौसम मे सेण्ट पीटर्सबर्ग के लोग तफरीह के लिए आया करते थे। फिर तय किया गया कि मुझे कही वाहर ही चला जाना चाहिए। लेकिन एक विदेशी पत्र द्वारा हमे मालूम हो गया था कि बाल्टिक और फिनलैण्ड प्रदेशो की सीमाओ के सब स्थानो और स्टेशनो पर वे जासूस तैनात थे, जो मुझे पहचानते थे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि उस तरफ चलू जिस तरफ किसीका खयाल ही न पहुँचे। एक मित्र का पासपोर्ट लेकर और दूसरे मित्र को साथ लेकर मैंने फिनलैण्ड की सीमा पार की और सीधा वोथीनिया की खाडी के एक बन्दरगाह पर पहुँचा। वहा से मै स्वीडन निकल गया।

जव मै जहाज पर बैठ गया और जब वह छूटने ही वाला था, तो मेरे साथी मित्र ने सेण्ट पीटर्सवर्ग की खवरे सुनाई। सरकार ने मेरी वहन हेलेन को गिरफ्तार कर लिया था। मेरे भाई की साली भी, जो भाई और भाभी के साइवेरिया चले जाने के वाद मुझसे हर महीने मिलने आती थी, हिरासत मे ले ली गई थी। मेरी बहन को तो मेरे जेल से भागने के वारे मे कुछ भी पता न था। जव मै भाग आया था, उसके वाद मेरे एक मित्र ने उसको यह खवर सुनाई थी। मेरी वहन ने वहुत-कुछ कहा, आरजू-मिन्नत की कि मुझे कुछ भी पता नही; लेकिन फिर भी पुलिस उसको उसके वच्चो से अलग करके ले गई और पन्द्रह दिन जेल मे रखा। मेरे भाई की साली को शायद कुछ भास तो हो गया था कि कुछ तैयारिया हो रही है; लेकिन उनमे उसका हाथ विल्कुल न था। अधिकारियो मे यदि तनिक भी वुद्धि होती, तो समझ लेते कि जो महिला हर महीने नियमपूर्वक मुझसे मिलने आती थी, कम-से-कम वह तो इस षड्यंत्र मे शामिल न होगी। उसको दो महीने जेल मे रखा गया। उसके पति ने, जो एक प्रतिष्ठित वकील था, उसे छुडाने का भरपूर प्रयत्न किया। उने अधिकारियो से उत्तर मिला, "हमे भी मालूम हो गया है कि इस षडयंत्र मे इस महिला का कोई हाथ नही; लेकिन जिस दिन हमने इसे गिरफ्तार किया

था, हमने जार को यह सूचना भेज दी थी कि षड्यत्र की सचालिका गिरफ्तार कर ली गई-है और अब जार को यह समझने मे देर न लगेगी कि षडयंत्र से इस औरत का कोई सबध नही ! "

विना कही रुके मै स्वीडन पार कर गया और क्रिश्चियाना पहुँचा। वहा हल नामक बन्दरगाह के लिए जहाज मिलने तक इन्तज़ार करता रहा। जब मैं जहाज पर पहुँच गया, तो मैंने जरा चिन्तित होकर सोचा—जहाज़ के ऊपर झडा कहा का है—नारवे का, जर्मनी का या इग्लैण्ड का ? तुरन्त मुझे दीखा, जहाज के ऊपर यूनियन जैक फहरा रहा है—वही झडा, जिसके नीचे इटालियन, रूसी, फ्रासीसी और सभी देशो के शरणार्थियो को शरण मिली है । मैंने हृदय से उस पताका का अभिनन्दन किया।[1]



१. उपर्युक्त वृत्तान्त क्रोपाटकिन के आत्म-चरित से लिया गया है।

# 'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्राप्य साहित्य

हिंदुस्तान की कहानी (नेहरू) ५)
नया भारत „ ।)
आजादी के आठ साल „ ।)
गाधीजी की देन (रा० प्र०) १॥)
गाधी-मार्ग „ =)
महाभारतकथा (राजाजी) ५)
कुब्जा-सुन्दरी „ २)
शिशु-पालन „ ॥)
मै भूल नही सकता (काटजू) २॥)
कारावास-कहानी (सु नै ) १०)
गाधी की कहानी (लु फि ) ४)
भारत-विभाजन की कहानी ४)
बापू के चरणो मे २॥)
इग्लैड मे गाधीजी २)
बा, बापू और भाई ॥)
गाधी-विचार-दोहन १॥)
सर्वोदय-तत्व-दर्शन ७)
सत्याग्रह-मीमासा ३॥)
बुद्धवाणी (वियोगी हरि) १)
सत-सुधासार „ ११)
श्रद्धाकण „ १)
अयोध्याकाण्ड „ १)
भागवत-धर्म (ह. उ ) ६॥)
श्रेयार्थी जमनालालजी „ ६॥)
स्वतत्रता की ओर „ ४)
बापू के आश्रम मे „ १)
मानवता के झरने (माव ) १॥)

बापू (घ बिडला) २)
रूप और स्वरूप „ ॥=)
डायरी के पन्ने „ १)
ध्रुवोपाख्यान „ ।)
स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय) १)
मेरी मुक्ति की कहानी „ १॥)
प्रेम मे भगवान „ २)
जीवन-साधना „ १।)
कलवार की करतूत „ ।)
हमारे जमाने की गुलामी „ ।॥)
बुराई कैसे मिटे ? „ १)
बालको का विवेक „ ।॥)
हम करे क्या ? „ ३॥)
धर्म और सदाचार „ १।)
अधेरे में उजाला „ १॥)
कल्पवृक्ष (वा. अग्रवाल) २)
लोक-जीवन (कालेलकर) ३॥)
साहित्य और जीवन २)
हिमालय की गोद मे (म०प्र०पो) २)
कब्ज „ १)
राजनीति-प्रवेशिका १)
जीवन-संदेश (ख जिब्रान) १।)
अशोक के फूल ३)
जीवन-प्रभात ५)
का का इतिहास ३ भाग ३०)
पचदशी (स य जैन) १॥)
सप्तदशी (स० विष्णु प्रभाकर) २)

| | |
|---|---|
| रीढ़ की हड्डी (स. विष्णु प्र०) | १॥) |
| अमिट रेखाये | ३) |
| एक आदर्श महिला | १) |
| राष्ट्रीय गीत | ।) |
| तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर) | १॥) |
| आत्म-रहस्य | ३) |
| थेरी-गाथाए | १॥) |
| बुद्ध और बौद्ध साधक | १॥) |
| जातक-कथा (आनद कौ.) | २॥) |
| हमारे गाव की कहानी | १॥) |
| साग-भाजी की खेती | ३) |
| ग्राम-सुधार | १।) |
| पशुओ का इलाज (पं प्र.) | ॥) |
| चारादाना ,, | ।) |
| रामतीर्थ-सदेश (३ भाग) | १=) |
| रोटी का सवाल (क्रोपा.) | ३) |
| नवयुवको से दो बाते ,, | ।=) |
| पुरुषार्थ (डा भगवानदास) | ६) |
| काश्मीर पर हमला | २) |
| शिष्टाचार | ॥) |
| तट के बधन (विष्णु प्रभाकर) | २) |
| देवदासी ' (ब्रोरकर) | २) |
| भारतीय सस्कृति | ३॥) |
| आधुनिक भारत | ५) |
| फलो की खेती | २॥) |
| मै तन्दुरुस्त हू या बीमार | ॥) |
| नवजागरण का इतिहास | ३) |
| गाधीजी छत्रछाया मे १॥) | २॥) |
| भागवत-कथा | ३॥) |
| जय अमरनाथ (यशपाल जैन) | १॥) |
| हमारी लोक-कथाएं | १॥) |
| सस्कृत-साहित्य-सौरभ (२४ पुस्तके) प्रत्येक | ।=) |
| समाज-विकास-माला (५४ पुस्तके) प्रत्येक | ।=) |
| कृषि-ज्ञान-कोष | ४) |
| प्रकाश की बातें | १॥) |
| धरती और आकाश | १।) |